संसद में

शिक्षा का अधिकार छीनने वाला बिल

'बच्चों के लिए मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008'
पर सार्वजनिक बहस की ज़रूरत

डॉ. अनिल सद्गोपाल

अक्तूबर 2014
किशोर भारती

हम 'शिक्षा अधिकार अधिकार कानून, 2009' का विरोध क्यों करते हैं?

1. केवल इसलिए नहीं कि,

- यह 6 साल से कम आयु वाले बच्चों के 'शिशु देखभाल एवं पूर्व–प्राथमिक शिक्षा' के अधिकार को नकारता है।
- यह 14 से 18 साल की आयु वाले बच्चों के माध्यमिक (कक्षा 9–10) और उच्च माध्यमिक (कक्षा 11–12) शिक्षा के अधिकार को नकारता है।

2. लेकिन इसलिए कि,

- यह 6–14 आयु समूह के बच्चों को भी समतामूलक गुणवत्ता की प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा 1–8) का अधिकार नहीं देता।
- यह 6–14 आयु समूह के बच्चों को स्कूल में टिकाए रखने और उनकी नियमित भागीदारी पुख्ता करने के लिए न तो आवश्यक समर्थक ढांचे खड़े करता है और न ही तयशुदा सुविधाएं देता है।
- यह न तो सरकारी स्कूलों को विकसित करता है और न ही निजी स्कूलों का नियमन (रेग्यूलेशन) करता है।

3. और भी बड़ा कारण है कि,

- यह निजी स्कूलों के प्रबंधकों को मनमाने ढंग से फीस बढ़ाने की छूट देता है और इस तरह शिक्षा के बाजारीकरण की रफ़्तार को तेज करता है।
- यह मुट्ठीभर कमजोर वर्ग के बच्चों की फीस की प्रतिपूर्ति के नाम पर निजी स्कूलों को सार्वजनिक धन स्थानांतरित करता है।
- यह फीस प्रतिपूर्ति की स्कीम लागू करके स्कूली शिक्षा के बेलगाम बाजारीकरण के लिए दरवाजे खोल देता है।
- यह न केवल वर्तमान बहुपरती एवं गैर–बराबर स्कूल व्यवस्था को कानूनी जामा पहनाता है लेकिन साथ में शिक्षा के विभिन्न आयामों में गैर–बराबरी और भेदभाव को भी और आगे बढ़ाता है।
- यह अंततः सरकारी स्कूलों को बंद करने के रास्ते खोलता है और स्कूल व्यवस्था को जनता की चिरप्रतीक्षित समान स्कूल व्यवस्था से ठीक उल्टी दिशा में ढकेलता है।

चेन्नई / 30 जून 2012

अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच (अभाशिअम)

306, प्लेज़ंट अपार्टमेंट्स, बाजारघाट, हैदराबाद 500 004, आंध्र प्रदेश

फोन – (040) 2330–5266, मो. – 09440980396; ईमेल –aifrte.secretariat@gmail.com

संसद में

शिक्षा का अधिकार छीनने वाला बिल

'बच्चों के लिए मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008'
पर सार्वजनिक बहस की ज़रूरत

डॉ. अनिल सद्गोपाल

अक्तूबर 2014

किशोर भारती
भोपाल, मध्य प्रदेश

संसद में
शिक्षा का अधिकार छीनने वाला बिल

'बच्चों के लिए मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008'
पर सार्वजनिक बहस की ज़रूरत

आवरण : कनक शशि

पहला संस्करण : जनवरी 2009 (2,000 प्रतियां)
दूसरा संस्करण : जून 2009 (3,000 प्रतियां)
दूसरा संस्करण : पुनर्मुद्रण – नवंबर 2009 (2,000 प्रतियां)
दूसरा संस्करण (परिवर्धित) : पुनर्मुद्रण – नवंबर 2012 (1,000 प्रतियां)
दूसरा संस्करण (परिवर्धित) : पुनर्मुद्रण – अक्तूबर 2014 (1,000 प्रतियां)

प्रकाशन एवं वितरण : किशोर भारती
ई–8 / 29, सहकार नगर,
भोपाल 462 039, म. प्र.

मुद्रण : आर के सेक्यू प्राइवेट लिमिटेड
प्लॉट नं. 15, सेक्टर जी,
इंडस्ट्रीयल एरिया, जे.के. रोड,
भोपाल 462 021, म. प्र.

सहयोग राशि : पैंतीस रुपए मात्र

इस पुस्तिका में छपी किसी भी सामग्री का उपयोग, उद्धरित एवं पुनर्प्रकाशन करने की पूरी छूट है। अपेक्षा केवल यह है कि ऐसा करते समय चयनित सामग्री के स्रोत का पृष्ठ संख्या सहित पूरा ज़िक्र किया जाए।

कहां क्या है?

विवरण **पृष्ठ सं.**

भूमिका (पहला संस्करण) 01

प्रस्तावना (दूसरा संस्करण) 06

खंड एक – शिक्षा का अधिकार एवं समान स्कूल प्रणाली : मायने, अंतर्संबंध और नवउदारवादी हमला

1. शिक्षा के मौलिक अधिकार के लिए संविधान के मायने 10
2. जागो, शिक्षा का मौलिक अधिकार छिननेवाला है! 11
3. संसद में पेश शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008 पर सवाल–जवाब 13
4. शिक्षा का अधिकार, रोज़गार और संविधान 30
5. शिक्षा का अधिकार, नवउदारवादी आक्रमण और भारत का भविष्य 34
6. शिक्षा का अधिकार : समानता और सामाजिक न्याय का सवाल 50

खंड दो – आंकड़ों से झांकती नवउदारवादी नीतियां : विदेशी सहायता, मानदंड और स्तर, सार्वजनिक खर्च

1. शिक्षा में विदेशी सहायता के मायने 58
2. स्कूली शिक्षा के मानदंडों का शिथिलीकरण 62
3. शिक्षा में सार्वजनिक खर्च की कटौती 67

खंड तीन – शिक्षा के मौलिक अधिकार की लड़ाई : खतरे, सीमाएं और संभावनाएं

1. केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड में शिक्षा अधिकार विधेयक : लोकतांत्रिक सलाह–मशविरे का ढोंग 73
2. उभरती जन चेतना, उभरता जन अभियान 87

दस्तावेज

भाग एक – आलेख

1. शिक्षा का हक छीनने वाला संवैधानिक संशोधन (राष्ट्रीय सहारा 28 नवंबर 2001) 110
2. बाजार और सांप्रदायिकता के बीच फंसी शिक्षा : राजनीतिक दलों और एन.जी.ओ. की भूमिका पर सवाल (राष्ट्रीय सहारा 08 दिसंबर 2001) 116

भाग दो – शिक्षा अधिकार मंच, भोपाल

3. भोपाल में आयोजित जनसभा (14 जनवरी 2009) में पारित संकल्प 122
4. भोपाल में निकली रैली (14 जनवरी 2009) का हैंडबिल 126

किशोर भारती – संक्षिप्त परिचय 127

––––––

भूमिका

अस्सी के दशक के अंतिम वर्षों में अमरीका की मैसाच्यूसट्स इंस्टीट्यूट ऑफ़ टैक्नॉलॉजी के राजनीति विज्ञान के प्रोफ़ेसर मायरन वीनर बाल मजदूरी और अनिवार्य शिक्षा का अध्ययन करने भारत आए। उन्होंने सन् 1991 में छपी 'भारत में बच्चे और राज्य–नीति' नामक अपनी मशहूर पुस्तक में लिखा है,

> "इस अध्ययन का मुख्य तर्क है कि भारत में प्रति व्यक्ति आय का कम होना या आर्थिक स्थिति का बदहाल होना उतना प्रासंगिक नहीं है जितना प्रासंगिक राज्य नौकरशाही के बने–बनाए मत हैं। इन मतों से व्यापक रूप से यहां के शिक्षाविद्, सामाजिक कार्यकर्ता, ट्रेड यूनियन में काम करने वाले, शोधकर्ता और मोटे तौरपर कहें तो भारतीय मध्यवर्ग के लोग सहमत हैं। इनको वे दोनों मानते हैं जो शासन में हैं तथा जो शासन के बाहर हैं, आस्थावान हिंदू और अपने को धर्मनिरपेक्ष माननेवाले एवं वामपंथी और मध्यमार्गी व दक्षिणपंथी भी। इन मतों के मूल में समाज व्यवस्था के बारे में भारतीय दृष्टि है। इस दृष्टि में मुख्यतः समाज के उच्च और निम्न तबकों की अलग–अलग भूमिकाओं से जुड़े विचार हैं और विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच भेदभाव बरकरार रखने के साधन के रूप में शिक्षा की भूमिका है। साथ में, ये चिंताएं भी हैं कि गरीबों को "बहुत ज़्यादा" और "अनुपयुक्त" शिक्षा देने से मौजूदा सामाजिक तानाबाना बिखर जाएगा। . . . . . भारत के नीति निर्माताओं ने बड़े पैमाने पर शिक्षा के प्रसार को कभी भी भारत के आधुनिकीकरण के लिए बुनियादी तौरपर ज़रूरी नहीं समझा है। उल्टे, इन्होंने अपने सारे संसाधनों को अभिजात् सरकारी स्कूलों, राज्य–समर्थित प्राइवेट स्कूलों और उच्च शिक्षा में झोंक दिया। उनकी कोशिश रही है कि एक ऐसा शिक्षित वर्ग पैदा हो जो पश्चिम के शिक्षित वर्गों के बराबर हो और एक आधुनिक लेकिन विदेशी अंतःक्षेत्र में अधीनस्थ अर्थव्यवस्था के निर्माण और प्रबंधन में समर्थ हो।"

भारतीय राज्य और सामाजिक व्यवस्था पर उपरोक्त बेबाक टिप्पणी हमें कड़वी और चुभनेवाली ज़रूर लग सकती है। लेकिन हमें यह सोचने पर

मजबूर करती है कि आजादी के साठ साल बाद भी हमारी शिक्षा नीति अन्य कई विकासशील मुल्कों के मुकाबले में संविधान में निर्देशित समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा देने में इस हद तक अक्षम क्यों साबित हुई है। प्रो. मायरन वीनर का अध्ययन तो सन् 1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण की औपचारिक घोषणा के ठीक पहले किया गया था। यदि यही अध्ययन वैश्वीकरण के तहत विश्व बैंक–अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा भारत पर थोपी गई शिक्षा नीति के बाद किया गया होता तो तय है कि उसके निष्कर्ष और भी ज़्यादा चुभनेवाले और हैरत में डालनेवाले होते। सन् 1986 की शिक्षा नीति को स्कूली शिक्षा व्यवस्था के अंदर और उसके जरिए समाज में गैर–बराबरी फैलानेवाली समानांतर परतों की नवउदारवादी नीतियों की शुरूआत माना जा सकता है। इनके तहत सरकारी स्कूल के ऊपर मुट्ठीभर ग्रामीण बच्चों के लिए नवोदय विद्यालयों की अभिजात परत और नीचे देश के आधे से अधिक बच्चों के लिए औपचारिकेतर (नॉन–फ़ॉर्मल) शिक्षा की घटिया परत बिछाई गई। नब्बे के दशक में विश्व बैंक–समर्थित डी.पी.ईपी. के जरिए आठ साल की प्रारंभिक शिक्षा की संवैधानिक कल्पना को शिथिल करते हुए भारतीय राज्य का फ़ोकस पांच या चार साल की प्राथमिक शिक्षा पर करने और शिक्षा को साक्षरता में बदल देने की नीति अपनाई गई। इस दशक को स्कूल के बजाए वैकल्पिक स्कूल, नाना प्रकार के औपचारिकेतर (नॉन–फ़ॉर्मल) शिक्षा केंद्र, सुविधा–विहीन शिक्षा गारंटी केंद्र, ब्रिज कोर्स आदि परतें बिछाने, नियमित शिक्षक कैडर की जगह पैरा–टीचर स्थापित करने और एक शिक्षक द्वारा एक ही कमरे में अकेले पांच कक्षाएं पढ़ाने का चमत्कार (बहु–कक्षाई अध्यापन) करने जैसे हैरतअंगेज नीतिगत परिवर्तनों के लिए याद किया जाता है। सन् 2000 के बाद से डी.पी.ईपी. की तमाम खामियों और विरोधाभासों का एक नया पैकेज बनाकर और उसपर 'सर्व शिक्षा अभियान' का चमकीला लेबल लगाकर नए सिरे से जनता के सामने परोसा गया।

आखिरकार, इस सब का मकसद क्या था? जाहिर है कि नवउदारवाद के एक प्रमुख एजेंट के रूप में विश्व बैंक का मकसद भारत की विशाल सरकारी स्कूल व्यवस्था की गुणवत्ता में इतनी गिरावट लाना था कि आम जनता में उसकी विश्वसनीयता खत्म हो जाए। आखिर, तभी तो निजी स्कूल का बाजार पनप सकेगा। ठीक हुआ भी यही। नब्बे के दशक का अंत होते–होते नाना प्रकार के निजी स्कूलों की संख्या में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई – 50–100 रु. माहवार फीस के घटिया स्कूलों से लेकर 5,000 रु. या उससे

भी ज़्यादा माहवार फीसवाले अभिजात आलीशान स्कूलों तक। यह सुनिश्चित करने के लिए नब्बे के दशक से ही शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य जन–कल्याणकारी क्षेत्रों से राज्य द्वारा अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पल्ला झाड़ने की सोची–समझी नीति की शुरूआत हुई। इसके परिणामस्वरूप सन् 1990–91 से लेकर सन् 2005–06 तक (उसके बाद के आंकड़े मिले नहीं हैं) देश की सालाना आमदनी यानी सकल राष्ट्रीय उत्पाद के प्रतिशत के रूप में पूरी शिक्षा व्यवस्था पर किए जाने वाला खर्च 4 फीसदी से घटकर 3.5 फीसदी रह गया।

यह घटता हुआ खर्च भी इस तरह किया गया कि एक ओर समाज में गैर–बराबरी बढ़े और दूसरी ओर अभिजात् व उच्च मध्यम वर्गों को ऐसी शिक्षा दी जाए कि वे वैश्विक अर्थव्यवस्था के लिए एक 'सक्षम' लेकिन गुलाम कामगारों की फौज बन सकें। ऐसी नीतियों को ही नवउदारवाद की देन माना जाता है। 11वीं पंचवर्षीय योजना में 6,000 मॉडल स्कूल भी इसीलिए शुरू किए जा रहे हैं ताकि जो मुट्ठीभर बच्चे गरीबी और सामाजिक व शैक्षिक व्यवस्था के पिछड़ेपन के बावजूद बाजार के मानदंडों पर प्रवेश परीक्षाओं के जरिए अपनी योग्यता स्थापित कर पाते हैं उन्हें अन्य बच्चों से अलग करके वैश्विक अर्थव्यवस्था की बंधक सेवा के लिए तैयार किया जाए। इसी उद्देश्य को आगे बढ़ाने के लिए दोहरी नीति अपनाई गई है। एक ओर, सैंकड़ों विश्वविद्यालयों व हजारों कॉलेजों को उनके वर्तमान घटिया स्तर पर बरकरार रखा जाएगा। दूसरी ओर, मुट्ठीभर सर्व–सुविधायुक्त नए अभिजात आईआईटी, आईआईएम, आईआईआईटी और केंद्रीय विश्वविद्यालय खोले जा रहे हैं। साथ–साथ, सार्वजनिक धन व अन्य सरकारी संसाधनों का उपयोग शिक्षा को निजी पूंजी को सौंपने और इस तरह उसका बेलगाम बाजारीकरण करने के लिए सार्वजनिक–निजी साझेदारी यानी पी.पी.पी. के नीतिगत फैसले भी इसी नवउदारवाद खाके के तहत हुए हैं। 11वीं योजना में स्कूल वाउचर की नीति को भी पी.पी.पी. के एक मॉडल के रूप में प्रोत्साहन दिया गया है, बावजूद इसके कि विकसित पश्चिमी मुल्कों में मुक्त बाजारवाद के सिद्धांत पर खड़ी इस अवधारणा को बार–बार नकारा गया है। राज्य सभा में शिक्षा के अधिकार के नाम पर पेश किए गए विधेयक में निजी स्कूलों में 25 फीसदी सीटों पर मुफ़्त शिक्षा देने का प्रावधान इसी विवादास्पद स्कूल वाउचर प्रणाली की तर्ज पर है।

आज हम कहां हैं? साठ के दशक में जनता तत्कालीन दोहरी शिक्षा नीति के खिलाफ़ लड़ रही थी। आज यह लड़ाई बहु–परती शिक्षा के खिलाफ़ हो गई है। जिन सरकारी स्कूलों से आज़ाद भारत के नए बुद्धिजीवी, शोधकर्ता, इंजीनियर, डॉक्टर, कलेक्टर व प्रबंधक निकले वही आज केवल दलित, आदिवासी, अतिपिछड़े और अल्पसंख्यक (ज़्यादातर मुस्लिम) बच्चों, खासकर लड़कियों व विकलांगों का आखिरी सहारा बन चुके हैं। सरकारी स्कूल व्यवस्था के ताबूत में आखिरी कील ठोंकने का काम जारी है। इस बदहाली को नवउदारवादी नीति की "महान सफलता" के रूप में पहचानने की ज़रूरत है।

राज्यसभा में दिसंबर 2008 में पेश किए गए 'बच्चों के लिए मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008' को इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और नवउदारवादी खाके में देखने व समझने की ज़रूरत है। इस खाके को पूरा करने के लिए एक और कहानी को याद करना ज़रूरी है। सन् 1993 में सुप्रीम कोर्ट ने अपने ऐतिहासिक उन्नीकृष्णन फैसले में संविधान के अनुच्छेद 45 में निर्देशित 14 साल की उम्र तक के बच्चों की शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा दे दिया। इस फैसले के चलते छह साल की उम्र से नीचे के बच्चों को संतुलित पोषण, स्वास्थ्य देखभाल, सुरक्षित बचपन और पूर्व–प्राथमिक शिक्षा (नर्सरी, के.जी.) एवं 6–14 आयु समूह के बच्चों को आठ साल की प्रारंभिक शिक्षा का मौलिक अधिकार मिल गया। केवल यही नहीं, इसी उन्नीकृष्णन फैसले में यह कहा गया कि अनुच्छेद 41 के अनुसार शिक्षा का अधिकार 14 साल की उम्र के बाद भी बरकरार है यानी कक्षा 12वीं तक की माध्यमिक शिक्षा और उसके बाद की उच्च, तकनीकी व प्रोफेशनल शिक्षा को भी अधिकार के नजरिए से देखने की ज़रूरत है। फर्क केवल यह है कि जहां 14 साल की उम्र तक के मौलिक अधिकार को देने में सरकार को पैसों की कमी का कोई भी बहाना करने की कतई इजाज़त नहीं है, वहीं 14 साल की उम्र के बाद की शिक्षा का अधिकार राज्य की आर्थिक हैसियत और विकास के स्तर को ध्यान में रखते हुए सीमित किया जा सकता है।

इस छोटी सी पुस्तिका में यह बताने की कोशिश की गई है कि राज्य सभा में दिसंबर 2008 में पेश किया गया विधेयक सुप्रीम कोर्ट के उक्त उन्नीकृष्णन फैसले (1993) से मिले मौलिक अधिकार को शिथिल और विकृत करने के लिए लाया गया है। **दरअसल, यह मौलिक अधिकार देनेवाला नहीं,**

वरन् छीननेवाला विधेयक है। यही इसकी असली मंशा है। जरा सोचिए, क्या शिक्षा का मौलिक अधिकार घटिया और भेदभावपूर्ण शिक्षा का हो सकता है? इस मायने में यह विधेयक न केवल संविधान का खुलकर मखौल उड़ाता है वरन् शिक्षा–विरोधी और बाल–विरोधी भी है। कहीं यह हकीकत जनता समझ न जाए, इसलिए सरकार बेहद हड़बड़ी में इसे पारित करवाने जा रही है। मानव संसाधन विकास की संसदीय समिति ने बिना कोई सार्वजनिक सुनवाई किए एक माह से कम समय में इसकी सिफारिश करते हुए इसे अध्यक्ष, राज्यसभा को वापस कर दिया। फरवरी मध्य 2009 से शुरू हो रहे आगामी अल्पकालीन बजट सत्र में ही इसका पास हो जाना पक्का है।* देश की लोकतांत्रिक परंपराओं को दरकिनार करना और संसद की जगह बाजार को स्थापित करना भी वैश्वीकरण के तहत हावी नवउदारवादी सोच की पहचान है। जिस तरह विगत बीस वर्षों में जल–जंगल–जमीन और जीविका को निजी पूंजी व कॉरपोरेट घरानों को सौंपने के लिए लोकतांत्रिक परंपराओं को कमजोर करनेवाले अनेक कानून (जैसे सेज़ के कानून) बनाए गए हैं, ठीक उसी तर्ज पर शिक्षा के अधिकार के नाम पर बना यह विधेयक भी है।

इन तमाम कारणों के चलते इस विधेयक को एक नवउदारवादी विधेयक मानने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। दरअसल, यह विधेयक हमारे संविधान में तथाकथित मुक्त बाजार और नवउदारवादी नीतियों का खुला हस्तक्षेप है। इसकी जगह संविधान की बुनियाद पर खड़े हुए एक नए विधेयक को लाने की लड़ाई के लिए आम जनता को तैयार करना होगा। तभी हम सभी बच्चों को **बिना किसी भेदभाव की समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा देनेवाली पड़ोसी स्कूल पर टिकी हुई समान स्कूल प्रणाली** (देखिए, 'सवाल–जवाब' के पांचवें सवाल का जवाब) के जनता के सपने को साकार कर पाएंगे। इसी उम्मीद और विश्वास से यह पुस्तिका आपके सामने है।

भोपाल,
31 जनवरी 2009

---

*दरअसल, फरवरी 2009 में यह विधेयक पारित नहीं हो पाया चूंकि संसदीय स्थाई समिति ने विधेयक पर अपनी रपट 18 फरवरी 2009 को संसद के दोनों सदनों को भेजी। हमें संसदीय स्थाई समिति के अध्यक्ष के दफ्तर से जनवरी के पूर्वाध में मिली जानकारी सही नहीं निकली। इसका मुख्य कारण इस प्रक्रिया में बरती गई गोपनीयता है।

प्रस्तावना

(दूसरा संस्करण)

इस पुस्तिका का दूसरा संस्करण कांग्रेस–नीत संप्रग (यू.पी.ए.) को केंद्रीय सरकार बनाने का जनादेश दोबारा मिलने के ठीक एक माह बाद निकल रहा है। सन् 2004 में संप्रग को पहली बार मिले जनादेश को समझाते हुए प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने कहा था कि यह जनादेश हमें "आर्थिक सुधारों को 'मानवीय चेहरे' के साथ लागू करने के लिए मिला है।" लेकिन भाजपा–नीत राजग के समान संप्रग के कार्यकाल में भी वैश्विक बाजार और भारत के पूंजीपति वर्ग के पक्ष में कई नीतियां बनीं। इनमें सेज़ की नीति और शिक्षा व स्वास्थ्य का तेजी से किया गया निजीकरण 'मानवीय चेहरे' का मखौल बनाते हुए सामने है। सार्वजनिक–निजी साझेदारी (पी.पी.पी.) के तहत सार्वजनिक संसाधन निजी पूंजी को सौंपने की नीति के बीज राजग के कार्यकाल में बोए गए जिन्हें संप्रग ने ठोस रूप दिया। ऐसी नीतियों ने जनता से उनका जल, जंगल, जमीन और जीविका का हक छीना है। जनता ने भी देश के विभिन्न अंचलों में इन तथाकथित आर्थिक सुधारों का जमकर प्रतिरोध किया है। इसके बावजूद संप्रग सरकार की 'मानवीय चेहरे' के साथ आर्थिक सुधारों की समझ जस–की–तस बनी रही।

अगस्त 2007 में असंगठित कामगार क्षेत्र पर गठित अर्जुन सेनगुप्ता आयोग की रपट ने बताया कि देश की अस्सी फीसदी से अधिक जनता रोज बीस रुपए या उससे भी कम में गुजारा करती है। इसके बावजूद इन विवादास्पद आर्थिक सुधारों पर पुनर्विचार नहीं हुआ। पिछले दो सालों में दुनियाभर में आई आर्थिक मंदी के मद्देनजर पूंजीवादी व्यवस्था की वैधता पर भी बुनियादी सवाल उठे हैं। तब भी आर्थिक सुधार के नवउदारवादी एजेंडे के एक जन–पक्षी विकल्प की तलाश तक शुरू नहीं हुई।

16 मई 2009 को मिले जनादेश की संप्रग सरकार द्वारा की जा रही व्याख्या जनादेश की विकृति है। कहा जा रहा है कि जनादेश तथाकथित आर्थिक सुधारों को और तेज करने के लिए मिला है। अब 'मानवीय चेहरे' का नकाब भी ओढ़ने की जरूरत नहीं है। भारत के कारपोरेट घरानों ने तो खुलकर ऐलान कर दिया कि अब तक वामदलों के कारण बैंकिंग, बीमा, प्राविडेंट फंड, मीडिया, खेती, खुदरा व्यापार, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों के निजीकरण और उनमें विदेशी पूंजी के निवेश पर थोड़े–बहुत जो प्रतिबंध लगे थे, आगे

वे भी हटाए जा सकते हैं। इस माहौल में जनादेश से निकली असली चुनौती नक्कारखाने में तूती की आवाज़ जैसी गायब हो गई। दरअसल, जनादेश तो ऐसी राजनीति के लिए मिला है जो आम जनता की अपेक्षाओं के अनुसार यह सुनिश्चित करे कि **उसे देश की अर्थव्यवस्था में बराबरी और न्यायशीलता के आधार पर सम्मानजनक हिस्सेदारी मिले**। आखिरकार, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ी गई लंबी लड़ाई की यही विरासत थी जिसे संविधान में प्रस्तावना, मौलिक अधिकारों (खंड तीन) और 'राज्य' को दिए गए दिशा–निर्देशों (खंड चार) में सहेजा गया है। निःसंदेह, संप्रग को दोबारा मिले जनादेश की नवउदारवादी खाके में की गई विकृत व्याख्या में मुख्यधारा के सभी राजनीतिक दल कमोबेश शामिल हैं (देखिए खंड तीन, पृष्ठ 90–95)।

इस वर्ष के आम चुनावों के पहले ही सरकार ने जन–विरोधी नवउदारवादी खाके को न्यायोचित ठहराने के लिए 'समावेशी वृद्धि' का नया शगूफ़ा छोड़ दिया। 11वीं पंचवर्षीय योजना (2007–12) को 'समावेशी वृद्धि' का नाम क्यों दिया गया? 'मानवीय चेहरे' का नकाब तो उतर चुका था, इसलिए जरूरी था कि एक नया नकाब ओढ़ा जाए। इस पुस्तिका के खंड दो में शिक्षा नीति के संदर्भ में 'समावेश' के असली मायने पर चर्चा की गई है (देखिए पृष्ठ 66–69)। यह स्पष्ट होना चाहिए कि **'समावेश'** की बात तभी की जाती है जब संविधान के **समानता के सिद्धांत को नकारा जाता है। निःसंदेह, संसद में पेश शिक्षा अधिकार विधेयक 'समावेश' के खाके में बनाया गया है, न कि समानता के**।

कई पुराने सवाल नए संदर्भों में फिर उठ रहे हैं। संप्रग की शिक्षा नीति क्या होगी? सरकार का शिक्षा की ताकतवर निजी लॉबी के प्रति क्या रुख होगा? संसद में पेश किए गए शिक्षा अधिकार विधेयक और उस पर संसदीय स्थाई समिति की रपट (18 फरवरी 2009) द्वारा की गई लीपापोती को सरकार किस नज़रिए से देखेगी? इस सबसे जूझने के लिए जनता को क्या कदम उठाने होंगे? इसलिए यह जरूरी लगा कि दूसरे संस्करण में कुछ नई सामग्री जोड़ी जाए। दो अतिरिक्त खंड जोड़े गए हैं। खंड दो में तीन मुद्दों – शिक्षा में विदेशी सहायता, स्कूलों के मानदंडों का शिथिलीकरण एवं शिक्षा में सार्वजनिक खर्च में कटौती – पर आंकड़े पेश किए गए हैं। खंड तीन में शिक्षा के मौलिक अधिकार और समान स्कूल प्रणाली के अंतर्संबंधित मुद्दों पर पिछले दस साल से जनता ने जो लड़ाई लड़ी है उसके अनुभवों की कहानी

है। इस कहानी में जनता की लड़ाई में आनेवाले निहित खतरों, सीमाओं और संभावनाओं को उजागर किया गया है। अंतिम खंड दस्तावेजों का है। दो दस्तावेज मेरे उन आलेखों के हैं जो सन् 2001 में लिखे गए थे जब भाजपा–नीत राजग सरकार ने 86वें संविधान संशोधन के जरिए शिक्षा का अधिकार छीना था। अगले दो दस्तावेजों में शिक्षा अधिकार मंच, भोपाल के संकल्प और हैंडबिल दिए हैं।

यह दूसरा संस्करण इस उम्मीद के साथ पेश है कि जनता ने जिस तरह नवउदारवादी नीतियों पर से 'मानवीय चेहरे' का नकाब उतारा, अब उसी तरीके से 'समावेशी वृद्धि' का नकाब भी उतारेगी। यह समानता पर आधारित शिक्षा व्यवस्था की रचना करने और शिक्षा का मौलिक अधिकार हासिल करने की दिशा में एक आवश्यक कदम होगा।■

भोपाल
16 जून 2009

खंड - एक

शिक्षा का अधिकार
एवं समान स्कूल प्रणाली
मायने, अंतर्संबंध और नवउदारवादी हमला

शिक्षा के मौलिक अधिकार के लिए संविधान के मायने

यह व्यापक रूप से माना गया है कि शिक्षा समाज का एक उपांग है। यह अपने–आप में कोई स्वतंत्र कारक नहीं है। इसका चरित्र, अंतर्वस्तु और प्रक्रिया विभिन्न वर्गों के निहित स्वार्थों के बीच चल रहे टकरावों से तय होती है। राज्य की आर्थिक और सामाजिक नीतियों का इस पर सीधा प्रभाव है। इसीलिए शिक्षा को प्रखर राजनैतिक द्वंद्व का क्षेत्र माना गया है।

उपरोक्त परिप्रेक्ष्य के मद्देनज़र सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन फैसले (1993) को समझने की ज़रूरत है जिसने संविधान के खंड तीन और चार के महत्व की निम्नांकित व्याख्या सामने रखी है –

> "राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत संविधान का केंद्रीय चरित्र और सामाजिक चेतना तय करते हैं। संविधान द्वारा राज्य के लिए अनिवार्य कर दिया गया है कि वह इन निर्देशक सिद्धांतों पर अमल करे। इसप्रकार ये निर्देश, राज्य की नीति, मार्गदर्शिका और सामाजिक–आर्थिक स्वतंत्रता का लक्ष्य बिंदू निर्धारित करते हैं . . . . . खंड चार में दिए गए निर्देशक सिद्धांत एवं खंड तीन के मौलिक अधिकारों के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं है। दरअसल वे एक–दूसरे के पूरक हैं और इसीलिए इन दोनों को रचनात्मक रूप से जोड़ने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए ताकि संविधान के उद्देश्य को आगे बढ़ाया जा सके।"

"अतः इस न्यायालय के फैसलों से यह भलीभांति स्थापित है कि खंड तीन और चार के प्रावधान एक–दूसरे के पूरक और सहयोगी हैं। मौलिक अधिकार खंड चार में इंगित उद्देश्य को हासिल करने के लिए आवश्यक साधन हैं। यह भी तय है कि मौलिक अधिकारों की व्याख्या निर्देशक सिद्धांतों के संदर्भ में करना ज़रूरी है।"

जागो, शिक्षा का मौलिक अधिकार छिननेवाला है!

यदि आज कोई आदिवासी, दलित, अतिपिछड़े या मुस्लिम समुदायों के मां–बाप अदालत का दरवाजा खटखटाकर मांग करते हैं कि,

- उनकी 4–5 साल की बच्ची की प्राथमिक शाला में पूर्व–प्राथमिक शिक्षा यानी नर्सरी–केजी की सुविधा होनी चाहिए,
- उनके गांव की प्राथमिक शाला में 60 बच्चों के लिए दो शिक्षक और दो कमरे हैं जो नाकाफ़ी हैं, अतः 1986 की शिक्षा नीति के ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड के मानदंडों के अनुसार वहां कम–से–कम तीन शिक्षक और तीन कमरे दिए जाएं,
- तीसरी कक्षा में पढ़ रही उनकी बच्ची को संगीत और कला सीखने में बहुत दिलचस्पी है लेकिन गांव के स्कूल में इसका कोई इंतजाम नहीं है, इसका इंतजाम किया जाए,
- उनके गांव के आठवीं कक्षा तक के मिडिल स्कूल में बिजली कनेक्शन दिया जाए, या
- उसी स्कूल में कम्प्यूटर और इंटरनेट की सुविधा दी जाए ताकि वे बच्चे भी ज्ञान की दुनिया से जुड़ सकें,

तो काफी संभावना है कि सभी बच्चों को समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा और आगे बढ़ने के लिए समान अवसर मिलें, संविधान की इस दृष्टि को मानते हुए अदालत सरकार को उक्त पांचों खामियों को पूरा करने के लिए सख्त आदेश देगी। फिर इसी आदेश की मिसाल पर सभी सरकारी स्कूलों में ये सुविधाएं देना, सरकार की संवैधानिक जवाबदेही बन जाएगी।

यदि उक्त सुविधाओं को देने में आनाकानी करते हुए सरकार पैसों की कमी का पुराना रोना रोती है तो काफी संभावना है कि अदालत इस बहाने को नहीं मानेगी। अदालत का तर्क होगा कि शिक्षा पर किए जानेवाला उक्त खर्च मौलिक अधिकार के दायरे में आता है, उसको प्राथमिकता देनी होगी। यानी कोई भी अन्य खर्च (उदा. सन् 2010 में होने वाले कॉमनवेल्थ गेम्स का अनुमानित एक लाख करोड़ रुपए का खर्च) जो मौलिक अधिकार के लिए नहीं है उसे काटकर उक्त मांगों को पूरा करना अनिवार्य होगा।

विडम्बना यह है कि राज्यसभा में 15 दिसंबर 2008 को जो 'बच्चों के लिए मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008' पेश किया गया है, यदि

वह संसद में पारित होकर कानून बन गया तो यही अदालत उक्त पांचों मांगों में से किसी के लिए भी बच्चों के पक्ष में आदेश जारी नहीं कर पाएगी। यह हैरतअंगेज हालात कैसे बने, यह जानने–समझने के लिए आगे पढ़िए, खासकर 'सवाल–जवाब' के तीसरे सवाल का जवाब।■

———————

शिक्षा में क्या ऊंच क्या नीच,
शिक्षा ऐसी हो, रहे सबके बीच ।

समतामूलक शिक्षा और ज्ञान,
अच्छे स्कूल की है पहचान ।

संविधान का है पैगाम,
सबको शिक्षा एक समान ।

संसद में
'बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008 पर
सवाल-जवाब

संसद में पेश उपरोक्त विधेयक पर सार्वजनिक बहस शुरू करने के उद्देश्य से समता विचार मंच की ओर से 11 जनवरी 2009 को इटारसी (जिला होशंगाबाद, म. प्र.) में एक खुली बैठक का आयोजन किया गया। बैठक के चंदेक दिन पहले किसान आदिवासी संगठन एवं समाजवादी जन परिषद के श्री सुनील (केसला, जिला होशंगाबाद) द्वारा मुख्य वक्ता डॉ. अनिल सद्‌गोपाल के सामने पांच सवाल रखे गए। इन सवालों के जवाब पर परचे का पहला प्रारूप इटारसी बैठक में बांटा गया। उसी परचे का एक संशोधित रूप यहां प्रस्तुत है।

पहला सवाल

क्या कारण है कि आजादी के बाद साठ साल बीतने के बावजूद आज तक देश के सभी बच्चों को शिक्षा नहीं मिल पाई?

जवाब – आजादी की लड़ाई के दौरान मैकाले की शिक्षा प्रणाली को खत्म करके देश की जनता की जरूरतों के अनुरूप एक नई प्रणाली खड़ी करने का सपना देखा गया था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में नई तालीम की एक क्रांतिकारी कल्पना भी पेश की गई थी। लेकिन आजाद भारत के शासक वर्ग को यह मंजूर नहीं था और उसने मैकाले की शिक्षा प्रणाली को न केवल जारी रखा वरन् उसे अपने आर्थिक–राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए और मजबूत किया। इस बात को समझने के लिए भारत में साठ साल के इतिहास को तीन हिस्सों में बांटना पड़ेगा।

- पहला काल (1947–1968) – राज्य–समर्थित पूंजीवाद का निश्चित चरण जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र पर हावी था।
- दूसरा काल (1968–1991) – राज्य–समर्थित पूंजीवाद का संकटकालीन चरण जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र का संतुलन बदल रहा था।

- तीसरा काल (1991–2008) – राज्य–समर्थित पूंजीवाद का नवउदारवादी चरण जिसमें निजी क्षेत्र वैश्विक बाजार के जरिए सार्वजनिक क्षेत्र पर हावी है।

पहले काल के दौरान बुर्जुआ शासक वर्ग अर्थव्यवस्था पर अपने नियंत्रण को लेकर पूरी तरह निश्चित था और इसलिए आम जनता की आकांक्षाओं को अनदेखा करते हुए सारा फ़ोकस उच्च शिक्षा पर रहा, थोड़ा बहुत माध्यमिक शिक्षा पर भी। लेकिन पूर्व–प्राथमिक स्तर से लेकर आठवीं कक्षा तक की प्रारंभिक शिक्षा को पूरी तौर पर नज़रअंदाज किया गया। उच्च शिक्षा में भी मैकाले के सिद्वांत के अनुसार ऐसी शिक्षा दी गई जो उस दौर के सरकारी पूंजीवाद के तहत हो रहे सीमित औद्योगीकरण और नौकरशाही के लिए उपयोगी लोग तैयार करे, न कि गरीबी, गैर–बराबरी और पिछड़ेपन जैसी समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए या एक सच्चा लोकतंत्र खड़ा करने के लिए। इसके चलते संविधान में सन् 1960 तक 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को मुफ़्त शिक्षा देने का निर्देशित लक्ष्य हाशिए पर चला गया। जब बुनियाद इतनी कमजोर होगी तो क्या इमारत हवा में लटकेगी? शासक वर्ग की नींद तब टूटी जब साठ के दशक की शुरूआत से ही अनाज का भारी संकट पड़ा और बड़ी तादाद में इसका आयात करना पड़ा। विदेशी मुद्रा के लाले पड़ गए। तब 1964 में कोठारी शिक्षा आयोग का गठन हुआ और उसको इस संकट से जूझने के लिए कैसी शिक्षा व्यवस्था हो, इस प्रश्न पर विचार करने को कहा गया।

कोठारी आयोग की रपट सन् 1966 में आई और इसके नाम पर सन् 1968 की पहली शिक्षा नीति बनी। मुख्यतः आयोग ने तीन प्रकार की अनुशंसाएं की थीं। पहली, सभी बच्चों को समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा देने के लिए सार्वजनिक धन पर चलनेवाली पड़ोसी स्कूल की कल्पना पर आधारित समान स्कूल प्रणाली का निर्माण। दूसरी, स्कूली और उच्च शिक्षा की पाठ्यचर्या में एक लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, समतामूलक एवं प्रबुद्ध समाज के निर्माण हेतु नागरिकता तैयार करने पर जोर। आयोग के विचार में इसके लिए पाठ्यचर्या का रिश्ता वैज्ञानिक सोच, उत्पादक काम, शोध और ज्ञान सृजन से जोड़ना जरूरी होगा। तीसरी, शिक्षा पर किए जानेवाले खर्च को इस प्रकार बढ़ाया जाए कि वह सन् 1986 तक सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 6 फीसदी हो जाए और फिर इसे इस स्तर पर बरकरार रखा जाए।

यहां से शुरू होता है दूसरा काल। अगले बीस वर्षों में आयोग की सिफारिशों के अनुसार कुछ प्रयास जरूर हुए खासकर 10+2+3 का ढांचा खड़ा करने के। लेकिन समान स्कूल प्रणाली और पड़ोसी स्कूल के प्रस्ताव को पूरी तरह खारिज कर दिया गया। इसी प्रकार शिक्षा पर खर्च बहुत धीमी गति से बढ़ा और सन् 1986 में यह सकल राष्ट्रीय उत्पाद के महज 3.5 फीसदी तक ही पहुंच पाया था। शोध और ज्ञान सृजन के नाम पर उच्च शिक्षा में केवल कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों में सुविधाओं को केंद्रित किया गया, जबकि अधिकांश की उपेक्षा हुई। पाठ्यचर्या में वैज्ञानिक सोच और उत्पादक काम को जोड़ने की बात तो मखौल बन गई।

अस्सी के दशक की शुरूआत में देश की शिक्षा एक बार फिर संकट से घिर गई चूंकि भारतीय अर्थव्यवस्था के सामने दुनिया की दो नई चुनौतियां थीं। एक चुनौती थी विश्व स्तर पर पूंजीवाद के नए संकट की – यह संकट बढ़ते क्रम में सिकुड़ते बाज़ार और सीमित होते प्राकृतिक संसाधनों का था। इसके कारण दुनिया की बड़ी पूंजीवादी ताकतें अन्य देशों के बाजार व संसाधनों पर नियंत्रण करने की रणनीति अपना रही थीं जिसका असर लातीनी अमरीका और अफ्रीकी मुल्कों पर दिख रहा था। दूसरी चुनौती सूचना प्रोद्योगिकी की उभरती हुई तकनीक की थी। इन दोनों चुनौतियों ने भारत सरकार को नई शिक्षा नीति बनाने के लिए मजबूर किया। यह आसान काम नहीं था। एक ओर तब तक हावी सरकार द्वारा समर्थित पूंजीवाद की जरूरतों का दबाव था और दूसरी ओर दुनिया के स्तर पर पूंजीवाद पर वित्तीय पूंजी[1] की बढ़ती हुई पकड़ का। इन विरोधाभासी दबावों का सामना करने लिए सन् 1986 की शिक्षा नीति बनी जो न तो इस चुनौती पर खरी उतरी और न ही देश की जरूरतों की कसौटी पर। इसके चलते शिक्षा में विषमताएं बढ़ीं। पहली बार स्कूली शिक्षा की जगह गरीब बच्चों (कुल बच्चों के दो–तिहाई) के लिए घटिया औपचारिकेतर शिक्षा (एनएफ़ई) और मुट्ठीभर बच्चों के लिए अभिजात नवोदय विद्यालय की समानांतर परतें बिछाने की नीति का जन्म इसी दौर में हुआ। अभिजात तबके को संतुष्ट करने के लिए कुछ कदम जरूर उठाए गए लेकिन कुल–मिलाकर नीति दिशाहीनता से ग्रस्त रही। आने वाले नवउदारवादी दौर के पूर्वाभास के चलते साक्षरता

[1]वित्तीय पूंजी वह पूंजी है जिसका निर्माण औद्योगिक पूंजी और बैंकिंग पूंजी के एक दूसरे के साथ विलय से होता है।

मिशन, स्वायत्त कॉलेज, स्कूली शिक्षा में विदेशी घुसपैठ और विश्व बैंक के साथ वार्ता जैसे कदम उठाए गए। गाहे–बगाहे संविधान और संसद की नीति निर्माण में भूमिका बनी रही।

तीसरे काल की शुरूआत सन् 1991 से होती है जब भारत सरकार ने देश की अर्थव्यवस्था के दरवाजे वैश्विक पूंजी और मुक्त बाजार के लिए बेरोकटोक खोल दिए। यह भारत को दुनिया की वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था से जोड़नेवाले वैश्वीकरण की नीति थी। शिक्षा समेत विकास के हर पहलू पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक की नीतियां हावी होने लगीं। इसके दो उल्लेखनीय पहलू हैं। एक को हम संरचनात्मक समायोजन के नाम से जानते हैं जिसके तहत भारत सरकार को शिक्षा, स्वास्थ्य और जन–कल्याण के तमाम क्षेत्रों में खर्च कम करने के लिए मजबूर होना पड़ा। दूसरा पहलू है ज्ञान के चरित्र से जुड़ा हुआ – शिक्षा जिस ज्ञान को आगे बढ़ाएगी वह ज्ञान आम जनता की जरूरतों के लिए होगा या वैश्विक पूंजी और मुक्त बाजार की जरूरतों के लिए? इन दोनों जरूरतों में बुनियादी टकराव है, खासकर इसलिए चूंकि वैश्विक पूंजी को उसके संकट से उबारने के लिए जिस मुक्त बाजारवाद के सिद्धांत को लागू किया गया वह ज्ञान पर पूरा नियंत्रण किए बगैर आगे बढ़ ही नहीं सकता था। उसके लिए यह भी जरूरी था कि नर्सरी/केजी से लेकर इंजीनियरिंग–मेडिकल शिक्षा तक जो कुछ पढ़ाया जाए वह उपभोगवादी मुक्त बाजार की गुलामी करनेवाला जनमानस तैयार करे। इसके अलावा केवल उतने ही लोगों को ऊंची गुणवत्ता की शिक्षा मिले जितनों की जरूरत वैश्विक पूंजी को अपने कारोबार के लिए है। शेष लोगों को या तो महज साक्षरता तक ही सीमित कर दिया जाएगा या फिर उन्हें ऐसे कौशल दिए जाएंगे जिनसे वे नए बाजार के लिए आवश्यक निम्न–स्तरीय काम कर सकें। एक ओर महंगी फीसवाले अभिजात संस्कृति के स्कूल खुलने की रफ्तार तेज हुई तो दूसरी ओर स्कूली शिक्षा से सरकार द्वारा अपना पल्ला झाड़ने की नीति के चलते बहु–परती शिक्षा व्यवस्था उभरकर आई यानी हर तबके को उसके सामाजिक दर्जे और आर्थिक हैसियत के अनुसार शिक्षा मिलेगी। इस दौर में पाठ्यचर्या में धार्मिक कट्टरवाद और साम्प्रदायिकता को भी बढ़ावा मिला। ऐसा क्यों हुआ, यह समझना जरूरी है। नवउदारवादी नीतियों ने शिक्षा के निजीकरण का अपना मकसद पूरा करने के लिए डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान जैसे काम किए जिनसे सरकारी स्कूल की विश्वसनीयता में तेजी से गिरावट आई। पिछले

बीस वर्षों में समाज को इस विषमतामूलक शिक्षा के द्वारा विभाजित करने का एजेंडा भारत पर निर्दयतापूर्वक थोपा गया है। इसकी निर्णय प्रक्रिया में संसद हाशिए पर चली गई है, संविधान को ताक पर रख दिया गया है। अब भारत की शिक्षा नीति आईएमएफ–विश्व बैंक के मुख्यालयों में गढ़ी जा रही है, न कि हमारे संसद भवन में। इस इतिहास के मद्देनज़र हम कैसे अपेक्षा करें कि देश की शिक्षा आम जनता की आकांक्षाओं को पूरा करेगी?

दूसरा सवाल

क्या सर्व शिक्षा अभियान के ज़रिए सबको शिक्षा नहीं मिलेगी?

जवाब – हालांकि सर्व शिक्षा अभियान का प्रारूप सन् 2000 में तैयार हुआ और इसकी औपचारिक शुरूआत दसवीं पंचवर्षीय योजना में सन् 2002 से हुई, इसके बीज 1986 की शिक्षा नीति में बोए जा चुके थे। सन् 1991 में जब वैश्वीकरण के तहत शिक्षा के खर्च में कटौती की शुरूआत हुई तो 1986 की नीति की कमजोरियों और विरोघाभासों ने वह जमीन दी जिस पर विश्व बैंक द्वारा समर्थित डीपीईपी (1993–2002) खड़ा किया गया। डीपीईपी ने क्या किया? इसने स्कूली शिक्षा को छह प्रमुख प्रकार से विकृत किया –

- स्कूल के समानांतर घटिया गुणवत्ता की विभिन्न शैक्षिक धाराओं का शुरू होना जैसे वैकल्पिक स्कूल, शिक्षा गारंटी केंद्र, ब्रिज कोर्स आदि का।
- नियमित शिक्षक की जगह अर्हता–विहीन, प्रशिक्षण–विहीन एवं कम वेतन पर अल्पकाल के लिए ठेके पर नियुक्त पैराटीचर ने ली।
- संसद द्वारा पारित 1986 की शिक्षा नीति में स्वीकृत मापदंडों का शिथिलीकरण किया गया जैसे प्रत्येक प्राथमिक व मिडिल स्कूल में कम–से–कम तीन शिक्षक–तीन कमरे की जगह दो शिक्षक–दो कमरे, एक शिक्षक द्वारा एक ही कमरे में पांच कक्षाओं का अध्यापन (बहुकक्षायी अध्यापन) और शिक्षा के समग्र उद्देश्यों की जगह साक्षरता ने ली।
- राज्य सरकारों के शिक्षा विभागों की भूमिका घटाने के लिए उनके समानांतर रजिस्टर्ड सोसायटियों का गठन हुआ जिनके जरिए डीपीईपी के केंद्रीय अनुदान को खर्च करने और प्रबंधन करने की शुरूआत हुई।

- विकेंद्रीकरण के नाम पर पंचायत एवं पालक–शिक्षक संघों को स्कूली शिक्षा में खास भूमिका देने का नाटक किया गया जबकि पूरी निर्णय प्रक्रिया व संसाधनों पर न केवल सरकार का वरन् अंतर्राष्ट्रीय ऐजंसियों का भी नियंत्रण बढ़ता जा रहा था।
- सरकार की जवाबदेही कम करने के लिए नाना प्रकार की अनुभवहीन एनजीओ को शिक्षा में घुसपैठ का मौका और उनके द्वारा प्रस्तावित तदर्थ स्कीमों के लिए जगह बनी।

सन् 2000 में उपरोक्त कमजोरियों और खामियों का पैकेज बनाकर और उस पर नया लेबल लगाकर सर्व शिक्षा अभियान तैयार हुआ। इसकी बुनियाद बहु–परती शिक्षा है और परोक्ष एजेण्डा सरकारी स्कूल व्यवस्था की गुणवत्ता में गिरावट लाना है। यह मकसद अब लगभग पूरा हो चुका है। आज सरकारी स्कूल की विश्वसनीयता इस स्तर तक गिर चुकी है कि गरीब व्यक्ति भी अपने बच्चों को सरकारी स्कूल में पढ़ाने को तैयार नहीं है, मजबूरी में चाहे उसे पढ़ाना पड़े। नेशनल सैम्पल सर्वे के आंकड़े दिखाते हैं कि निम्न आयवाले परिवार अपना पेट काटकर भी बच्चों को महंगी फीसवाले निजी स्कूलों में भेज रहे हैं। यानी एक ओर जनता में शिक्षा की आकांक्षा बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर सरकार की शिक्षा देने की इच्छाशक्ति घटती जा रही है। इस विडम्बना का ही परिणाम है कि नब्बे के दशक से निजी स्कूलों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। इसका मतलब है कि आईएमएफ–विश्व बैंक, डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान के जरिए स्कूली शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण के अपने उद्देश्य में सफल हो चुके हैं। इसका यह भी मतलब है कि अब भारतीय संविधान द्वारा पूर्व–प्राथमिक से आठवीं कक्षा तक मुफ्त व अनिवार्य शिक्षा देने का संकल्प नीति निर्माण की बुनियाद में नहीं है।

उपरोक्त हालात के संदर्भ में दो मुद्दे उठाना जरूरी है। पहला, क्या आठवीं कक्षा तक की शिक्षा गरीब बच्चों के लिए कोई प्रासंगिकता रखती है? इस स्तर तक पढ़ने के बाद उनके लिए क्या रोजगार के कोई नए दरवाजे खुलते हैं? यदि नहीं तो वे अपने मां–बाप की तरह ही न्यूनतम मजदूरी से भी कम दिहाड़ी पर जीवनभर मजदूरी करने के लिए अभिशप्त हैं। तो फिर शिक्षा को पांचवी या आठवीं कक्षा तक सीमित करनेवाले डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान उनको स्कूल आने के लिए कैसे प्रेरित कर सकते हैं? नीति निर्माता

शिक्षा के इस अधूरेपन को चाहे न मानते हों लेकिन देश की मेहनतकश जनता जानती है कि बारहवीं तक की माध्यमिक शिक्षा और उसके जरिए उच्च शिक्षा या रोजगारपरक कोर्सों के उपलब्ध हुए बगैर शिक्षा की बात बेमानी है।

दूसरा मुद्दा शिक्षा के चरित्र और दिशा से जुड़ा हुआ है। संघर्षशील दलित–आदिवासी संगठनों की एक साल पहले हरदा में हुई एक बैठक में उन्होंने कहा कि हम अपने बच्चों के लिए आज की स्कूली शिक्षा नहीं चाहते चूंकि यह शिक्षा हमारे बच्चों को हमारा ही शोषण करनेवाले सरकारी तंत्र का गुलाम और ठेकेदारों का एजेण्ट बनाती है और फिर वे हमारी लड़ाई को तोड़नेवाले बन जाते हैं। सुविधाभोगी वर्गों के लिए यह सवाल शायद कोई महत्व नहीं रखता चूंकि उन्होंने अपने भविष्य को वैश्विक पूंजी और मुक्त बाजार से जोड़ लिया है यानी अपने को ऊंची आमदनी पर गुलामी करने के लिए तैयार कर लिया है। लेकिन देश की वह तीन–चौथाई जनता जो 20 रुपए प्रतिदिन पर गुजर–बसर करती है (अर्जुन सेनगुप्ता आयोग रपट, 2007), उसके लिए इस नवउदारवादी शिक्षा का सवाल बुनियादी महत्व का है चूंकि यह देश के संसाधनों के वितरण में निहित गैर–बराबरी और विकास नीतियों के जन–विरोधी चरित्र से जुड़ा हुआ है।

उपरोक्त दोनों मुद्दों पर सर्व शिक्षा अभियान की चुप्पी सरकार की मंशा पर नए सवाल खड़े करती है।

<u>तीसरा सवाल</u>

क्या राज्यसभा में पेश किए गए 'बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008' के पारित होने पर सब बच्चों को उम्दा गुणवत्ता की शिक्षा मिलने की उम्मीदें बढ़ जाएंगी?

जवाब – कतई नहीं। ठीक उल्टा ही होगा। यह इसलिए चूंकि इस विधेयक की जड़ें संविधान में नहीं हैं वरन् नवउदारवादी पूंजी और 'मुक्त' बाजारवाद में हैं। इसे मौलिक अधिकार के परिप्रेक्ष्य में तैयार करने की बजाए शिक्षा के बेलगाम बाजारीकरण की नीति के साथ समझौते करते हुए खैरात के रूप में लिखा गया है। इसे मौलिक अधिकार के खाके में डालने के लिए भारी संशोधनों की जरूरत पड़ेगी। दरअसल, यह 86वें संविधान संशोधन (2002) के अनुच्छेद 21(क) के तहत है जो स्वंय संविधान में नवउदारवाद की

घुसपैठ का परिणाम है। याद रहे कि सुप्रीम कोर्ट ने सन् 1993 में **उन्नीकृष्णन फैसला** दिया था जिसके चलते अनुच्छेद 45 के तहत 14 वर्ष की आयु तक (6 वर्ष से कम आयु के बच्चों समेत) के बच्चों को मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा का मौलिक अधिकार मिल गया था। तो फिर 86वें संविधान संशोधन की जरूरत क्यों पड़ी? इसकी जरूरत इसलिए पड़ी चूंकि भारत का शासकवर्ग उन्नीकृष्णन फैसले को पचा नहीं सका और उसने एक ऐसा संशोधन संविधान में करवाया ताकि सुप्रीमकोर्ट के द्वारा जो मौलिक अधिकार दिया गया था, **उसे छीन लिया जाए।**

86वें संविधान संशोधन के अनुच्छेद 21(क) ने दो प्रकार से शिक्षा का मौलिक अधिकार छीना। पहला, 6 वर्ष से कम आयु के 17 करोड़ बच्चों को संतुलित पोषण, स्वास्थ्य और पूर्व–प्राथमिक शिक्षा की जो गारंटी मिल चुकी थी, वह छीन ली गई। दूसरा, अनुच्छेद 21(क) के अनुसार 6–14 आयु के बच्चों को मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा **"उस रीति से दी जाएगी जो राज्य कानूनन निर्धारित करेगा"** यानी मौलिक अधिकार का रूप क्या होगा यह तय करने का अधिकार सरकार को मिल गया। अन्य किसी भी मौलिक अधिकार में सरकार को यह अधिकार नहीं है। मकसद यह था कि डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान के दौरान शिक्षा में जो विकृतियां की गईं थीं उन्हें सरकार कानून बनाकर वैधानीकृत कर देगी ताकि उस पर कोई सवाल न उठा सके। अन्यथा हम अदालत में जाकर यह कह सकते थे कि घटिया गुणवत्ता की बहु–परती शिक्षा संविधान की समानता और समान अवसरों के सिद्धांत का उंल्लघन करती है और इसलिए इसकी जगह समान स्कूल प्रणाली लाई जाए। 86वें संविधान संशोधन ने मौलिक अधिकार की लड़ाई के ये सब दरवाजे बंद कर दिए। यदि संसद ने इस विधेयक को इसी रूप में पारित कर दिया तो ये बंद दरवाजे सील हो जाएंगे।

यदि राज्यसभा में पेश विधेयक इसी रूप में पारित हो गया तो इसके निम्नांकित परिणाम होंगे –

- आज की भेदभावपूर्ण **बहु–परती शिक्षा बरकरार** रहेगी।
- अधिकांश बच्चों को घटिया और उबाऊ शिक्षा मिलती रहेगी जिसके चलते आधे से अधिक बच्चे उसी तरह आठवीं कक्षा तक बिना पहुंचे स्कूल छोड़ते रहेंगे जैसा आज तक हुआ है।

- विधेयक में दिए गए मानदंड एवं स्तर के मद्देनज़र और न्यूपा (नेशनल यूनिवर्सिटी ऑफ़ एज्युकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन एंड प्लानिंग) द्वारा जारी किए गए आंकड़ों[2] के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनको आज के लचर हालात बरकरार रखने या उन्हें और नीचे गिराने के इरादे से तय किया गया है। इसके तीन उदाहरण पेश किए जा रहे हैं –

  (क) कम–से–कम 37 फीसदी प्राथमिक स्कूल महज दो शिक्षक–दो कमरे वाले बने रहेंगे और इस कारण इनमें एक शिक्षक द्वारा एक ही कमरे में एक से अधिक कक्षाएं पढ़ाने की परिपाटी जारी रहेगी। ठीक यही 17 फीसदी और प्राथमिक स्कूलों में भी होगा जिनमें तीन शिक्षक–तीन कमरे मिल पाएंगे। चार शिक्षक–चार कमरे वाले प्राथमिक स्कूल लगभग 12 फीसदी रहेंगे। यानी लगभग दो–तिहाई प्राथमिक स्कूलों में डीपीईपी व सर्व शिक्षा अभियान वाला बहु–कक्षाई अध्यापन बरकरार रहेगा। यदि एक भी शिक्षक बीमार हो गया या उसे विधेयक के अनुसार चुनावी/ जनगणना की ड्यूटी पर भेज दिया गया तो बहु–कक्षाई अध्यापन का प्रकोप और बढ़ जाएगा।

  (ख) उपरोक्त आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि लगभग 75 फीसदी प्राथमिक स्कूलों में अलग से कोई प्रधान पाठक नियुक्त नहीं किया जाएगा।

  (ग) विधेयक के अनुसार उच्च प्राथमिक/मिडिल स्कूलों में विद्यार्थी : शिक्षक अनुपात 1:35 का रहेगा। लेकिन अधिकांश उच्च प्राथमिक/मिडिल स्कूलों में यह अनुपात अभी से इससे बेहतर है (औसत अनुपात 1:34 से 1:29 तक)। क्या विधेयक के बाद ऐसे स्कूलों से शिक्षक स्थानांतरित किए जाएंगे ताकि उनका अनुपात गिरकर निर्देशित मानदंड पर आ जाए?

खोजबीन करने पर ऐसे कई और उदाहरण दिए जा सकते हैं चूंकि विधेयक में दिए गए मानदंड एवं स्तर काफ़ी निम्नस्तरीय हैं।

---

[2]नेशनल यूनिवर्सिटी ऑफ़ एड्युकेशनल प्लैनिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन (2008), एलिमेंट्री एड्युकेश इन इंडिया – प्रोग्रेस टुअर्ड्स यूईई, एनालिटिकल रिपोर्ट 2006–07, नई दिल्ली, कुल पृ. सं. 185.

- **नियमित शिक्षक का कैडर खत्म कर दिया जाएगा** और उसकी जगह अर्हता–विहीन, प्रशिक्षण–विहीन व कम वेतन पर ठेके प्रथा में नियुक्त पैराटीचर ले लेंगे।
- **शिक्षकों के कैडर का विभाजन कर दिया जाएगा** चूंकि अलग–अलग राज्य सरकारों को वेतन और अन्य सेवा शर्तें अपनी–अपनी सहूलियत के अनुसार तय करने की खुली छूट मिल जाएगी।
- सरकारी स्कूल के शिक्षकों को आगे भी जनगणना, चुनाव और हादसों में राहत पहुंचाने के काम में लगाया जाता रहेगा। इसके चलते जब सरकारी स्कूलों के बच्चों की पढ़ाई बंद रहेगी तब निजी स्कूलों के बच्चों की पढ़ाई चालू रहेगी। वर्तमान का यह भेदभाव पूरी तौरपर वैधानीकृत हो जाएगा।
- जिन राज्यों में वर्तमान में निजी स्कूलों पर निगरानी एवं नियंत्रण रखने के कानून बने हुए हैं उनको रद्द करने या शिथिल करने का भारी दबाव निजी स्कूल लॉबी द्वारा राज्य सरकारों पर बनेगा। इसका एक परिणाम यह भी होगा कि **निजी स्कूलों को मनमानी फीस लेने की पूरी छूट मिल जाएगी।**
- विधेयक में एक शगूफ़ा निजी स्कूलों में गरीब बच्चों के लिए 25 फीसदी सीटों पर मुफ़्त शिक्षा का रखा गया है। इस पर तीन बातें कहनी हैं। पहली, यहां मुफ्त शिक्षा का मतलब निजी स्कूलों की पूरी ट्यूशन फीस की माफ़ी नहीं है चूंकि इन स्कूलों को सरकार केवल उतना पैसा देगी जो वह सरकारी स्कूल में औसतन एक बच्चे पर खर्च करती है। जिन स्कूलों में ट्यूशन फीस सरकार द्वारा दी गई राशि से अधिक होगी वहां इन गरीब बच्चों का क्या होगा, इस सवाल का जवाब विधेयक नहीं देता। दूसरी, निजी स्कूलों में ट्यूशन फीस के अलावा कई बहानों से और ढेर सारे शुल्क लिए जाते हैं एवं पोशाक, बूट आदि का भी अतिरिक्त खर्च है। इस बोझ को गरीब बच्चे कैसे उठाएंगे? तीसरी, **मुफ्त शिक्षा का अधिकार आठवीं कक्षा में खत्म हो जाएगा। उसके बाद ये बच्चे एक बार फिर सड़कों पर आ जाएंगे** चूंकि वे वहां हाईस्कूल की शिक्षा जारी नहीं रख पाएंगे। वैसे भी यह पूछना जरूरी है कि क्या 25 फीसदी आरक्षण का यह प्रावधान 6–14 आयु समूह के 19 करोड़ बच्चों की शिक्षा की समस्या का कोई कारगर समाधान है? आज लगभग 4 करोड़ बच्चे मान्यता

प्राप्त निजी स्कूलों में हैं। इस प्रावधान से 25 फीसदी यानी 1 करोड़ बच्चों का समाधान हुआ, ऐसा मान लें। **तो फिर शेष 18 करोड़ बच्चों को क्या घटिया शिक्षा मिलती रहेगी?**

- वैसे तो विधेयक के पैरोकार दावा करते हैं कि इसके बाद निजी स्कूलों में केपिटेशन फीस और बच्चों या उनके अभिभावकों की भर्ती के पूर्व होनेवाली स्क्रीनिंग (छंटाई) पर प्रतिबंध लग जाएगा। इसके खिलाफ विधेयक में दंड के प्रावधान भी हैं लेकिन यह तो उस केपिटेशन फीस पर रोक लगेगी जो रसीद देकर ली जाती है। ज्यादातर केपिटेशन फीस तो छिपकर ली जाती है जिसकी कोई रसीद नहीं दी जाती। इस पर कैसे रोक लगेगी? वैसे भी विधेयक में फीस पर नियंत्रण लगाने का कोई प्रावधान नहीं है यानी फीस मनमाने ढंग से बढ़ाकर काफी हद तक केपिटेशन फीस की भरपाई भी होती रहेगी। जहां तक भर्ती के पहले स्क्रीनिंग का सवाल है वहां जरूर प्रावधान में कुछ दम दिखता है। लेकिन यहां भी दिल्ली हाईकोर्ट के हाल के आदेश से सबक लेना चाहिए जिसने नर्सरी/केजी में स्क्रीनिंग पर रोक लगा दी और भर्ती के कुछ मापदंड बनवा दिए। ये मापदंड ऐसे थे जिन्होंने निजी स्कूलों के मालिकों को हेरफेर करने की काफी छूट दे दी। बेशक, दिल्ली में खुलकर चलनेवाली स्क्रीनिंग बंद होने का दावा चाहे सरकार कर ले लेकिन अन्य तरीकों से बच्चों की छंटाई और पक्षपात जारी है। इस मर्ज का भी विधेयक के पास तब तक कोई इलाज नहीं होगा जब तक देश के सभी बच्चों के लिए उम्दा गुणवत्ता के स्कूल उपलब्ध नहीं हो जाएंगे और हर स्कूल अमरीका और यूरोप के कुछ देशों की तर्ज पर पड़ोसी स्कूल घोषित नहीं हो जाएगा। विधेयक इस मूल समस्या का कोई समाधान नहीं देता।
- दुनियाभर में माना गया है कि पूर्व–प्राथमिक शिक्षा (नर्सरी/केजी) बच्चों के बौद्धिक, भावात्मक एवं कौशलात्मक विकास के लिए अतिमहत्वपूर्ण है। चूंकि यह सुविधा सरकारी व्यवस्था में लगभग नदारद है, इसलिए इसका बड़ा कारोबार निजी क्षेत्र में खुल गया है जहां हजारों रुपए की सालाना फीस ली जाती है। जाहिर है कि देश के अधिकांश बच्चे पूर्व–प्राथमिक शिक्षा से वंचित रहते हैं। तो क्या यह विधेयक इस विषय में कोई ठोस बात कहता है? यह मामला

गोलमोल भाषा में राज्य सरकारों की 'सद्इच्छा' पर छोड़कर विधेयक ने पल्ला झाड़ लिया है। विधेयक में दिए गए मानदंड एवं स्तर में भी पूर्व–प्राथमिक शिक्षा को शामिल नहीं किया गया है यानी इसकी कोई अनिवार्यता नहीं है।

- एक और दावा है कि आठवीं कक्षा पहुंचने तक न तो किसी बच्चे को फेल किया जाएगा और न ही बाहर निकाला जाएगा। इस प्रावधान के बहुत गुणगान हो रहे हैं। लेकिन शिक्षा का मकसद बच्चों को महज साल–दर–साल अगली कक्षा में आगे बढ़ाते रहना ही नहीं है वरन् उनके अंदर निहित तमाम संभावनाओं को एक बालप्रेमी माहौल में उजागर करते हुए उन्हें उम्दा शिक्षा देना भी है। **फेल न करने या बाहर न निकालनेवाला यह प्रावधान तो तब मददगार होगा जब शिक्षा के इस मकसद को पूरा करने के लिए सही ढंग के स्कूल होंगे। बहु–परती पैराटीचरवाले स्कूल जहां बहु–कक्षायी अध्यापन होता हो वह स्कूल व्यवस्था इस मकसद को कैसे पूरा करेगी?**
- विधेयक में कोई वित्तीय ज्ञापन संलग्न नहीं है। इसका हैरत में डालनेवाला कारण दिया गया है कि **विधेयक को क्रियान्वित करने के लिए होनेवाले खर्च का अनुमान लगाना अभी मुमकिन नहीं है।** जो सरकार विगत साढ़े तीन सालों में इसके खर्च का अनुमान तक नहीं लगा सकी, वह क्या इसके क्रियान्वयन के प्रति गंभीर हो सकती है? लेकिन सच्चाई कुछ और है। इसका वित्तीय ज्ञापन फरवरी 2008 में तैयार हो गया था और इसे योजना आयोग की स्वीकृति मिल चुकी थी। इसे मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने अपनी मोहर लगाकर मंत्रीमंडल सचिवालय को भेज भी दिया था। **तो अब इसको छिपा क्यों दिया?** एक ही कारण समझ में आता है। उस अनुमान में कई ऐसे खर्चों का ब्यौरा है (जैसे शिक्षकों के पैराटीचरवाले वेतन) जिनके **सार्वजनिक होने से इस विधेयक की पोल खुल जाती।**
- संविधान के अनुसार मौलिक अधिकार वह अधिकार है जिसका हनन होने पर नागरिक अदालत जाकर सरकार के खिलाफ याचिका दायर कर सके और न्याय हासिल कर सके। विडम्बना है कि मौलिक अधिकार के नाम पर बने इस विधेयक के अनुसार जहां निजी स्कूलों की बात आती है वहां नागरिक को अदालत में जाने से पहले अधिकृत सरकारी अफसर से अनुमति लेनी पड़ेगी। यानी सरकार

ताकतवर निजी स्कूलों को संरक्षण देती रहेगी। शेष अधिकारों के लिए भी विधेयक कहता है कि यदि किसी प्राधिकार या अफसर के द्वारा किसी प्रावधान का उल्लंघन 'सद्इच्छा' या 'अच्छी मंशा' के बावजूद हो गया हो तो उसके खिलाफ कोई मुकदमा दायर नहीं किया जा सकेगा। **यह सब मौलिक अधिकार की परिभाषा पर फूहड़ मजाक के अलावा और क्या है?**

आज़ादी के बाद साठ साल तक इंतज़ार करवाकर शिक्षा का मौलिक अधिकार देने का ढोल पीटनेवाली सरकार और उसके समर्थक गैर–सरकारी पैरोकारों, कारपोरेट घरानों व बाजारवाद के पिछलग्गू मीडिया एवं अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषित एजेंसियों के सामने इस विधेयक को लेकर और बहुतेरे सवाल रखे जा सकते हैं लेकिन आम जनता में बहस की शुरूआत करने के लिए अभी इतना काफ़ी है।

चौथा सवाल

विगत 20 वर्षों में स्कूली और उच्च शिक्षा का तेजी से निजीकरण और बाजारीकरण हुआ है। क्या यह सही दिशा नहीं है?

जवाब – दुनिया के सबसे ताकतवर और विकसित आठ मुल्कों (अमरीका, ब्रिटेन, कनाडा, जापान, फ़्रांस, जर्मनी, रूस व इटली), जिन्हें जी–8 कहा जाता है, में से ब्रिटेन को छोड़कर अन्य सभी में सरकारी धन पर चलनेवाली उम्दा गुणवत्ता की मजबूत सार्वजनिक स्कूल प्रणाली है। ब्रिटेन में भी पिछले 40 सालों में जनदबाव में अभिजात तबकों के लिए चलनेवाले तथाकथित निजी 'पब्लिक' स्कूलों की तुलना में सार्वजनिक स्कूल प्रणाली मजबूत हुई है। अमरीका में तो डेढ़ सौ सालों से सार्वजनिक स्कूल प्रणाली है जहां अमीर–गरीब और विभिन्न नस्लों, मजहबों व भाषाओं की पृष्ठभूमि के बच्चे एक साथ पढ़ते हैं, निजी स्कूल तो नाममात्र हैं। वहां हरेक स्कूल पड़ोसी स्कूल होता है यानी आपके पड़ोस में जो भी स्कूल है उसके अलावा आप अपने बच्चे को और कहीं नहीं पढ़ा सकते। इसलिए वहां हरेक स्कूल पर उम्दा गुणवत्ता के होने का राजनीतिक दबाव है। यही कहानी अन्य जी–8 मुल्कों की भी है। तो क्या भारत इस ऐतिहासिक अनुभव का अपवाद हो सकता है?

पांचवा सवाल

आपकी राय में क्या किया जाए ताकि देश के हरेक बच्चे, किशोर और युवा को उम्दा गुणवत्ता की शिक्षा मिले?

जवाब – इसके लिए भारत के सामने **सार्वजनिक धन पर चलनेवाली और पड़ोसी स्कूल पर आधारित समान स्कूल प्रणाली** के अलावा कोई और विकल्प नहीं है। ऐसी प्रणाली **पूर्व–प्राथमिक स्तर (नर्सरी/केजी) से लेकर 12वीं कक्षा तक** हरेक स्कूल के निर्धारित पड़ोस में रहने वाले सभी बच्चों को पूरी तौर पर मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए संवैधानिक रूप से जवाबदेह होगी। इस प्रणाली की निम्नांकित खूबियां होंगी –

- यह समान सिद्धांतों पर पूरे देश में लागू होगी **जिसमें सभी वर्गों और पृष्ठभूमियों के परिवारों को अपने बच्चों को पढ़ाना कानूनी रूप से लाज़मी होगा।** इसको लागू करते समय संविधान के अनुच्छेद 29 और 30 के साथ विरोधाभास को जरूर ध्यान में रखना होगा लेकिन इसके कारण समान स्कूल प्रणाली के पक्ष में व्यवस्थामूलक बदलाव के कदमों को रोकने का बहाना करने की कोई ज़रूरत नहीं है। इस विरोधाभास का समाधान आगे चलकर निकाला जा सकेगा।
- इसमें सरकारी व स्थानीय निकाय, निजी सहायता–प्राप्त और निजी सहायता–विहीन सभी प्रकार के स्कूल शामिल होंगे और **सभी की समान रूप से संवैधानिक जवाबदेही तय होगी।**
- हरेक स्कूल का पड़ोस निर्धारित करते वक्त यह सुनिश्चित करना होगा कि उसमें उस इलाके की विभिन्न पृष्ठभूमियों के बच्चे शामिल हों ताकि **हरेक स्कूल में पूरी क्षेत्रीय विविधता झलके।**
- इसमें हरेक स्कूल की अधोसंरचना (यानी भौतिक सुविधाओं), शिक्षकों का दर्जा (अर्हता, वेतन, सेवा शर्तें), विद्यार्थी–शिक्षक अनुपात, पाठ्य व अन्य शैक्षिक सामग्री, पुस्तकालय, प्रयोगशाला व खेल के मैदान एवं पाठ्यचर्या के **मानदंड–स्तर पूरे देश में समकक्ष (एकरूपी नहीं) होंगे। इसके मायने हैं कि ये मानदंड–स्तर केंद्रीय विद्यालय से किसी हालत में कम नहीं होंगे, बेहतर चाहे हों।**
- समान स्कूल प्रणाली के मायने **एकरूपता कतई नहीं हो सकता।** भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में लोकतांत्रिक और न्यायशील स्कूल

प्रणाली वही है जिसमें **विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषाई परिस्थितियों के अनुकूल** पाठ्यचर्या, पाठ्य सामग्री और शिक्षण पद्धति में सृजनात्मक नवाचार हो सके, **न कि वर्तमान प्रणाली जैसी एकरूपता और जड़ता हो।** केवल दो शर्तें हैं। एक, यह विविधता संविधान के खाके और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा की मार्गदर्शिका का उल्लंघन नहीं करेगी। दो, विविधता के नाम पर न तो शैक्षणिक स्तर के साथ कोई समझौता होगा और न ही बच्चों के साथ अन्य किसी प्रकार के भेदभाव की इजाज़त होगी।

- सभी स्कूलों में **भाषा शिक्षण नीति के समान सिद्धांत** लागू होंगे जिसकी बुनियाद में **भारतीय बच्चों की बहुभाषीयता** होगी। सभी बच्चों के लिए बिना किसी भेदभाव के पूर्व–प्राथमिक स्तर से लेकर 12वीं कक्षा तक **मातृ भाषा/प्रादेशिक भाषा को शिक्षण का माध्यम** मानते हुए **उम्दा गुणवत्ता की अंग्रेजी** (गैर–हिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी की भी) के शिक्षण की व्यवस्था करना सरकार की जवाबदेही होगी। सन् 1986 की शिक्षा नीति में प्रस्तावित **त्रि–भाषा सूत्र** की भी इसी खाके में नए सिरे से व्याख्या करने की ज़रूरत होगी।
- उपरोक्त व्यवस्थामूलक बदलाव का तकाज़ा है कि शिक्षकों का निर्माण करनेवाले सभी **सेवापूर्व और सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आमूलचूल कायाकल्प** करना होगा। आज के सर्टिफ़िकेट, डिप्लोमा, बी.एड. और एम.एड. कोर्स अभी भी, कुछेक अपवादों को छोड़कर, **औपनिवेशिक एवं यथास्थितिवादी सांचे में ढले हुए हैं।** इनमें ज्ञानमीमांसात्मक (ज्ञान के स्रोत व चरित्र से संबंधित) बदलाव लाने के लिए ज़रूरी है कि इन कोर्सों के लिए फ़ैकल्टी तैयार करनेवाले **विश्वविद्यालयों के शिक्षा विभागों का भी कायाकल्प हो।**
- एक राज्य/यू.टी. में स्थित सभी स्कूलों, चाहे वे सरकारी हों या निजी (सहायता–प्राप्त/सहायता–विहीन), उन सभी के लिए **केवल एक ही परीक्षा बोर्ड** होगा ताकि विभिन्न बोर्डों के कारण पनपनेवाली विषमताओं के चलते समान अवसरों के संवैधानिक मौलिक अधिकारों का जो उल्लंघन होता है उसको खत्म करके **सभी स्कूलों के बीच समकक्षता** स्थापित हो सके।
- निर्णय प्रक्रिया, संसाधनों के आबंटन, नियोजन और प्रबंधन में केंद्र और राज्य सरकार के स्तर से लेकर ग्राम पंचायत एवं स्कूल की

प्रबंधन समिति के स्तर तक **लोकतांत्रिकरण करना समान स्कूल प्रणाली की बुनियाद होगी। इस खाके में ही विकेंद्रीकरण और उसके जरिए जनसहभागिता,** खासकर अभिभावकों की, सुनिश्चित करके ही स्कूलों की सृजनात्मकता व गुणवत्ता बरकरार रखी जा सकती है।

- संसाधनों के आबंटन में यह ध्यान रखना होगा कि पिछले 40 सालों में कोठारी आयोग द्वारा अनुशंसित पूरी शिक्षा व्यवस्था (नर्सरी से उच्च व प्रोफ़ेशनल शिक्षा तक) पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 6 फीसदी की दर से काफी कम खर्च किया गया है। आज भी यह खर्च सकल राष्ट्रीय उत्पाद का लगभग 3.5 फीसदी ही है। इसके मायने हैं कि अब 6 फीसदी खर्च करके काम नहीं चलनेवाला चूंकि **पिछले 40 सालों में साल–दर–साल हुई निवेश की कमी यानी उपेक्षा की खाई लगातार चौड़ी होती गई है जिसे पाटे बगैर अब आगे नहीं बढ़ा जा सकता।** इसको अगले सात साल में पाटने की उच्च प्राथमिकता पर योजनाबद्ध कार्रवाई करनी होगी। उसके बाद ही सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 6 फीसदी खर्च बरकरार रखने की बात सार्थक होगी।
- समान स्कूल प्रणाली का केंद्रीय उद्देश्य **एक लोकतांत्रिक, समाजवादी, न्यायशील, धर्मनिरपेक्ष और प्रबुद्ध भारत का निर्माण** करना होगा जिसे बुनियादी कसौटी मानकर ही सारे व्यवस्थामूलक बदलाव लाने होंगे।

स्कूली शिक्षा और उच्च शिक्षा का रिश्ता

स्कूली शिक्षा के मायने तभी हैं जब यह भारत के हरेक बच्चे को 12वीं कक्षा के बाद उच्च शिक्षा और प्रोफ़ेशनल शिक्षा हासिल करने के लिए समान अवसर प्रदान करे ताकि हरेक युवा को देश की अर्थव्यवस्था और संसाधनों के वितरण में समतामूलक हक मिले। इसके लिए तीन ज़रूरी पूर्व शर्तें हैं। पहली, उच्च माध्यमिक स्तर (12वीं कक्षा तक) की पाठ्यचर्या ऐसी हो कि उसमें निहित ज्ञान आगे के किसी भी कोर्स (बीए–बीएससी /इंजीनियरिंग/मेडिसिन/मेनेजमेंट/व्यावसायिक) की प्रवेश परीक्षा के लिए यथेष्ट हो **ताकि कोचिंग की ज़रूरत ही खत्म हो जाए और उसपर प्रतिबंध लगाया जा सके।** प्रवेश परीक्षा के चरित्र में भी बदलाव लाना ज़रूरी होगा। दूसरी, उच्च शिक्षा और प्रोफ़ेशनल शिक्षा के उम्दा संस्थानों की संख्या में इतनी वृद्धि करनी होगी कि आज की मांग–आपूर्ति के बीच की खाई पट जाए। तीसरी, सरकार की उच्च शिक्षा और प्रोफ़ेशनल शिक्षा से **अपनी**

जवाबदेही से पल्ला झाड़ने की नवउदारवादी नीति को पलटना जन आंदोलन का जरूरी मुद्दा होगा। यदि यह नहीं किया तो **उच्च शिक्षा और प्रोफ़ेशनल शिक्षा इतनी महंगी हो जाएगी** कि देश के 80 फ़ीसदी युवा इससे वंचित हो जाएंगे। संविधान का अनुच्छेद 41 इस स्तर की शिक्षा को भी हरेक नागरिक का अधिकार मानता है। इसीलिए **सरकारी धन के सहारे शिक्षा का निजीकरण व बाजारीकरण करने की सार्वजनिक–निजी साझेदारी (पीपीपी) की नीति** का प्रतिरोध भी शिक्षा के अधिकार की लड़ाई का ही हिस्सा होगा।

राज्य सभा में पेश विधेयक में आमूलचूल संशोधन करवाने की लड़ाई लड़नी होगी ताकि यह उपरोक्त सिद्धांतों पर आधारित शिक्षा व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने का सशक्त औजार बने। अन्यथा इसकी जगह एक ताजे विधेयक को नए सिरे से लिखवाने के लिए जन आंदोलन करना होगा। इसके बगैर आपके बच्चे भारत के दोयम दर्जे के नागरिक बने रहने के लिए अभिशप्त हैं! ■

———————

हमको शिक्षा की ख़ैरात नहीं,
शिक्षा का अधिकार चाहिए!

बिन शिक्षक है अधूरी शिक्षा,
नहीं चाहिए ऐसी भिक्षा!

कक्षावार शिक्षक और कक्ष,
हर शिक्षक हो कुशल व दक्ष!

शिक्षा का अधिकार, रोजगार व संविधान[3]

पिछले हफ्ते दिल्ली की ट्रेन भोपाल स्टेशन से खिसकी ही थी कि सामने बैठे सज्जन ने पूछ लिया, "साहब, अब तो आप खुश होंगे ना। आखिरकार, शिक्षा का अधिकार बिल राज्यसभा में पेश हो गया है। अब गरीब बच्चों को भी उम्दा शिक्षा मिलेगी और बेहतर रोजगार भी।" ये सज्जन चंदेक माह पहले शहर में हुई उस बैठक में थे जहां मैंने संविधान में मिले हुए शिक्षा के मौलिक अधिकार का उल्लंघन करने वाला बिल बनाने के लिए सरकार की आलोचना की थी। रोजगार के गैर–संगठित क्षेत्र पर अर्जुन सेनगुप्ता आयोग की रपट के अनुसार कुल कामगारों के 93 प्रतिशत कामगार गैर–संगठित क्षेत्र के हैं और उन परिवारों के दो–तिहाई से अधिक लोग 20 रुपए प्रतिदिन पर गुजर–बसर करने के लिए मजबूर हैं। इस तबके की शिक्षा से यही अपेक्षा है कि वे इतना सक्षम हो जाएं कि गैर–संगठित क्षेत्र से निकलकर संगठित क्षेत्र के ऊंची आमदनीवाले रोजगार पाने के हकदार बन सकें। क्या राज्यसभा में पेश किया गया शिक्षा का अधिकार देने का दावा करनेवाला बिल भारत के आमजन की यह उम्मीद पूरा कर पाएगा? इसका जवाब छह साल पहले ही मिल चुका था जब 86वां संविधान संशोधन अधिनियम आया था। इस संशोधन ने संविधान में अनुच्छेद 21(क) जोड़कर मुफ्त व अनिवार्य शिक्षा का मौलिक अधिकार 6–14 आयु समूह के बच्चों तक सीमित कर दिया था – राज्यसभा का बिल इसी अनुच्छेद के तहत लाया गया है। यही इसकी सीमा है। सन् 1950 में जब संविधान ने सरकार को 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को मुफ्त व अ्निवार्य शिक्षा देने के निर्देश दिए थे तब के सामाजिक–आर्थिक हालात आज से एकदम फर्क थे। भारतीय गणतंत्र के उस शुरूआती काल में कक्षा 8 तक शिक्षा देने का संकल्प कुछ मायने रखता था। लेकिन आज 12वीं कक्षा की परीक्षा पास किए बगैर रोजगार की बात तो दूर, आईटीआई व पॉलिटेक्निक या फिर अन्य किसी व्यावसायिक कोर्स में भी प्रवेश नहीं मिल सकता। आईआईटी और आईआईएम जैसे अभिजात संस्थानों की बात छोड़िए, 8वीं कक्षा पास विद्यार्थी इंजीनियर, डॉक्टर, वकील, कलेक्टर या फिर किसी निजी कंपनी का एक्ज़ीक्यूटिव आदि जैसे किसी भी अच्छे रोजगार हेतु उच्च शिक्षा पाने की अर्हता भी नहीं पाता है। तो फिर

[3]दैनिक भास्कर (30 दिसंबर 2008) में संपादकीय पृष्ठ पर 'बुनियादी अधिकारों में शिक्षा!' शीर्षक से प्रकाशित।

राज्यसभा देश के बच्चों को आजादी के बाद साठ साल इंतज़ार करवाकर कौनसा मौलिक अधिकार देने जा रही है?

अनुच्छेद 21(क) संविधान के मौलिक अधिकार वाले खंड तीन में है। तो क्या जिस शिक्षा का अधिकार यह बिल देगा वह अन्य मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करके दिया जा सकता है? अनुच्छेद 14, 15 और 16 बिना किसी भेदभाव के कानून के समक्ष बराबरी और आगे बढ़ने हेतु समान अवसर का मौलिक अधिकार देते हैं। जो शिक्षा व्यवस्था गैर–बराबरी की बुनियाद पर खड़ी है और बच्चों को आर्थिक वर्ग, जाति, नस्ल, मजहब, लिंग और जन्मस्थान के आधार पर अलग–अलग गुणवत्ता की शिक्षा देती है, क्या वह संविधान के समानता के सिद्धांत का उल्लंघन नहीं करेगी? यानी क्या घटिया गुणवत्ता की शिक्षा देनेवाले स्कूलों के विद्यार्थी उम्दा गुणवत्तावाले स्कूलों में पढ़े विद्यार्थियों की होड़ में बराबरी कर पाएंगे? यह नया बिल आज की बहु–परती शिक्षा को खत्म करने की कोई दृष्टि नहीं देता बल्कि विभिन्न प्रकार के स्कूलों को वैधानीकृत जरूर करता है। गरीब बच्चों के लिए साधारण सरकारी स्कूल, सरकारी कर्मचारियों के लिए केंद्रीय विद्यालय, ग्रामीण मध्यम व संपन्न वर्ग के लिए नवोदय विद्यालय, 11वीं पंचवर्षीय योजना में नए खुलनेवाले 6,000 मॉडल स्कूल और सुविधाभोगी वर्ग के लिए ऊंची फीसवाले निजी स्कूल, ऐसे सभी प्रकार के स्कूलों को बरकरार रखने के लिए यह बिल कानूनी मान्यता देता है।

बात यहां रुकती नहीं है। 11वीं पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के क्षेत्र में सार्वजनिक–निजी साझेदारी (पीपीपी) का सिद्धांत लागू करने की नीति बन चुकी है। यानी अब सरकार सार्वजनिक धन का उपयोग शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण के लिए करने जा रही है। कुछ प्रदेश सरकारों ने तो सरकारी स्कूलों को निजी कंपनियों को देने के लिए टेंडर तक जारी करने या फिर अन्य तरीकों से सौंपने की पूरी तैयारी कर ली है। चंदेक शहरों में कुछ सरकारी स्कूलों की बेशकीमती जमीनों पर शॉपिंग मॉल या अन्य अभिजात कारोबार शुरू हो चुके हैं। इस वर्ष अप्रैल में योजना आयोग ने स्कूली शिक्षा को सार्वजनिक–निजी साझेदारी के सांचे में ढालने के लिए एक बैठक बुलाई थी जिसमें 18 कॉरपोरेट घरानों के प्रतिनिधि मौजूद थे, एक भी शिक्षाविद् या शिक्षक नहीं था। शिक्षा को कारोबार में बदलने की इस घोषित

सरकारी नीति के चलते इस बिल का खोखलापन अपनेआप जाहिर हो जाता है।

वैश्वीकरण की नवउदारवादी नीति की तर्ज पर बने इस सरकारी बिल के पैरवीकार सरकार के बाहर भी हैं। उनका कहना है कि यह बिल निजी स्कूलों की भी जवाबदेही तय करता है। उनका इशारा उस प्रावधान की ओर है जो निजी स्कूलों में कमजोर वर्गों और वंचित समुदायों के बच्चों के लिए 25 फीसदी सीटें आरक्षित करता है। इनकी फीस सरकार की ओर से दी जाएगी। इससे बड़ा फूहड़ मजाक और क्या हो सकता था। एक, आज 6–14 आयु समूह के लगभग 20 करोड़ बच्चों में से 4 करोड़ बच्चे निजी स्कूलों में हैं। इनके 25 फीसदी यानी महज एक करोड़ बच्चों के लिए यह प्रावधान होगा। शेष 19 करोड़ बच्चों का क्या होगा? उनके लिए यह बिल केवल घटिया दर्जे के सरकारी स्कूलों का ही नज़रिया पेश करता है। दूसरा, सब जानते हैं कि निजी स्कूलों में ट्यूशन फीस के अलावा अन्य कई प्रकार के शुल्क लिए जाते हैं जिसमें कम्प्यूटर, पिकनिक, डांस आदि शामिल है। यह सब और इन स्कूलों के अभिजात माहौल के अनुकूल कीमती पोशाकें गरीब बच्चे कहां से लाएंगे? इनके बगैर वे वहां पर कैसे टिक पाएंगे? तीसरा, यदि किसी तरह वे 8वीं कक्षा तक टिक भी गए तो उसके बाद उनका क्या होगा चूंकि फिर सरकार निजी स्कूलों को फीस देना बंद कर देगी? ये बच्चे फिर सड़कों पर आ जाएंगे जबकि उनके साथ पढ़े हुए फीस देनेवाले बच्चे 12वीं कक्षा पास करके आईआईटी व आईआईएम या विदेशी विश्वविद्यालयों की परीक्षा देंगे। इन सभी सवालों का एक ही जवाब है – समान स्कूल प्रणाली जिसमें हरेक स्कूल (निजी स्कूलों समेत) पड़ोसी स्कूल होगा। संविधान के अनुकूल एकमात्र इसी समाधान से यह बिल कन्नी काट गया।

इस आलम में संविधान में दिए गए रोजगार के समान अवसरों के अधिकार की बात कौन करेगा? राज्यसभा को याद दिलाने की जरूरत है कि संविधान के खंड 4 में अनुच्छेद 41 है जिसमें हरेक नागरिक को रोजगार व शिक्षा का अधिकार दिया गया है। सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन फैसले (1993) के अनुसार अनुच्छेद 41 के मायने हैं कि शिक्षा का अधिकार 14 वर्ष की आयु में खत्म नहीं होता वरन् सेकेंडरी व उच्च शिक्षा तक जाता है। फर्क इतना है कि 14 वर्ष की आयु तक की शिक्षा के लिए सरकार पैसों की कमी का कोई

बहाना नहीं कर सकती, जबकि सेकेंडरी व उच्च शिक्षा को देते वक्त उसकी आर्थिक क्षमता को ध्यान में रखा जा सकता है। जनता को उम्मीद थी कि यह बिल उच्च शिक्षा के दरवाजे प्रत्येक बच्चे के लिए समानता के सिद्धांत पर खोल देगा। तभी तो रोजगार के लिए सभी वर्गों व समुदायों के बच्चे बराबरी से होड़ कर पाएंगे और साथ में भारत की अर्थव्यवस्था में समान हिस्सेदारी के हकदार बनेंगे। क्या ऐसे कानून के लिए एक और आधी सदी की इंतजार की जाए या संसद पर जनदबाव बनाकर इसी बिल में यथोचित संशोधन करवाने के लिए कमर कसी जाए? ■

———————

सबको शिक्षा एक समान
लेकर रहेगा मजदूर-किसान ।

राष्ट्रपति की हो या मजदूर की संतान,
सबको शिक्षा एक समान ।

शिक्षा का अधिकार, नवउदारवादी आक्रमण और भारत का भविष्य[4]

वर्ष 2008–09 के बजट सत्र की शुरूआत में ही केंद्रीय सरकार ने संकेत दे दिया था कि वह शिक्षा के मौलिक अधिकार को लागू करनेवाला पांच साल से टाला जा रहा विधेयक इसी सत्र में पेश कर देगी। यह इशारा पाते ही सरकार की तर्ज पर बाल अधिकार की रोटियां सेंकनेवाले एन.जी.ओ. और पिछलग्गू बुद्धिजीवी सक्रिय हो गऐ – अखबारों में विधेयक के पक्ष में लेख छपने लगे, दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में सेमिनार होने लगे, राष्ट्रपति को ज्ञापन भेजे जाने लगे और मासूम बच्चों के गलों में तख्तियां–बैनर लटकाकर उन्हें सांसदों के दरवाजे खटखटाने के लिए घुमाया गया। यह दावा किया गया कि दिसंबर 2002 में स्वीकृत 86वें संविधान संशोधन के द्वारा संविधान में जोड़े गये नये अनुच्छेद 21(क) के तहत उक्त विधेयक का संसद में पेश होना ही एक ऐतिहासिक कदम होगा। भ्रम फैलाया गया कि इससे विगत साठ सालों से नहीं मिला शिक्षा का अधिकार गरीब बच्चों की झोली में होगा और कोठारी आयोग का पड़ोसी स्कूल के जरिए हरेक को उम्दा गुणवत्ता की शिक्षा देने का सपना साकार हो जाएगा।

सरकार ने भी पूरी रस्मअदायगी की। मानव संसाधन मंत्रालय ने अगस्त 2005 से प्रधानमंत्री कार्यालय में धूल फांक रहे शिक्षा अधिकार विधेयक को झाड़ा–पोंछा। तुरत–फुरत सरकारी शिक्षाविदों व मंत्रालय के उच्च अधिकारियों की एक समिति की ताजी मुहर लगवाकर पुराने विधेयक को नया लोकतांत्रिक जामा पहनाया गया। रस्मअदायगी का तकाज़ा था कि विधेयक के इस प्रारूप पर एक बार फिर नये सिरे से सभी मंत्रालयों व योजना आयोग के मत ले लिए जाएं। वह भी कर लिया गया। लेकिन फिर सरकार ने एक अजीबोगरीब चुप्पी साध ली। सरकार विधेयाक को पेश करने की भी हिम्मत नहीं जुटा पायी।

बहरहाल, यह किसी ने नहीं बताया कि अगस्त 2005 के जिस प्रारूप को आगे बढ़ाया जा रहा है उस पर केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ('केब') की 14 जुलाई 2005 को हुई बैठक में गंभीर आपत्तियां दर्ज की गईं थीं और वह

---

[4]स्रोत – 'विचार प्ररिक्रमा', मई 2008, नई दिल्ली, पृ. 6–12

स्वीकृत नहीं हो पाया था। विवादों में लिपटा यह प्रारूप मौलिक अधिकार देता नहीं था, वरन् छीनता था – शिक्षा में गैर–बराबरी बढ़ाता था, गरीब बच्चों को अधकचरी शिक्षा देता था, सरकारी और निजी स्कूलों के शिक्षकों के बीच भेदभाव करता था और सरकारी खजाने के सहारे स्कूली शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण के नये दरवाजे चतुराई से खोलता था। इसमें सरकार की वित्तीय जवाबदेही भी कम करने के प्रावधान थे।

इसके बावजूद एक उच्च–स्तरीय मंत्रीमंडलीय समूह ने फैसला किया कि इस विधेयक को लागू करने के लिए सरकार के पास पैसा नहीं है। इसीलिए जून 2006 में केंद्र ने अपनी जवाबदेही से पूरी तरह पल्ला झाड़ते हुए राज्य सरकारों को एक तथाकथित मॉडल बिल का प्रारूप भेजकर लिखा कि यदि वे चाहें तो अगस्त 2005 के घटिया प्रारूप से भी ज्यादा कमजोर उक्त मॉडल बिल को अपनी–अपनी विधानसभाओं में पारित करवा लें। राज्य सरकारों ने ऐसा करने से इंकार करते हुए मांग की कि केंद्र अपनी जवाबदेही को पूरा करनेवाला विधेयक संसद में पारित करवाए। हैरत है कि इतने महत्वपूर्ण मुद्दे पर भी सभी राजनैतिक पार्टियां चुप रहीं। क्या यह जानने की जरूरत नहीं है कि एन.डी.ए. सरकार के जमाने से चल रही टालमटोल के बाद बजट सत्र 2008 में अगस्त 2005 के बाल–विरोधी व शिक्षा–विरोधी प्रारूप को फिर से आगे बढ़ाने का नाटक केंद्र ने क्यों किया? अंततः, कोई तार्किक वजह बताए बगैर सरकार पीछे क्यों हट गई?

उपरोक्त सवालों का जवाब तभी मिलेगा जब हम तीन बुनियादी मुद्दों पर विचार करने का मन बनाएंगे। पहला, भारत के शासक वर्ग का वर्ग व वर्ण चरित्र क्या है और यह केवल अभिजात् एवं मध्यम वर्ग के हित में ही शिक्षा नीति गढ़ने में अपना निहित स्वार्थ क्यों मानता है। दूसरा, सन् 1991 में नई आर्थिक नीति के बाद वैश्वीकरण का जो दौर चला है उसके फलस्वरूप सरकारी स्कूल व्यवस्था को ध्वस्त करने और स्कूली शिक्षा का तेजी से निजीकरण व बाजारीकरण करने के लिए क्या नीतिगत बदलाव किए गये हैं। इसमें विश्व बैंक और अन्य अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों की क्या भूमिका रही है और ऐसा करवाने में उनका क्या मकसद है। तीसरा, सरकार एवं उसपर हावी कॉरपोरेट घरानों व वैश्विक बाजार की कैसा भारत बनाने की मंशा है और इसके लिए नया नीतिगत नज़रिया क्या होगा। जाहिर है कि ये मुश्किल

सवाल हैं लेकिन इनसे हम कब तक कतराएंगे? नीचे इन सवालों से जूझने का प्रयास किया गया है।

संविधान में शिक्षा के मौलिक अधिकार की मूल दृष्टि

संविधान सभा में डॉ. अंबेडकर के प्रयासों के बावजूद शिक्षा को संविधान के मौलिक अधिकार वाले खंड तीन में नहीं रखा जा सका। हालांकि 14 साल की उम्र तक के सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का अनुच्छेद 45 संविधान के राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के खंड चार में रखा गया, लेकिन शिक्षा के बारे में संवैधानिक दृष्टि के चार महत्वपूर्ण बिंदुओं पर गौर करना जरूरी है। **पहला,** खंड चार में यह एकमात्र अनुच्छेद है जिसकी पूर्ति के लिए समय सीमा रखी गयी थी – संविधान लागू होने के दस साल के भीतर इस संकल्प को पूरा करना था जो आज तक नहीं हुआ। **दूसरा,** 14 साल की उम्र तक में छह वर्ष से कम उम्र के भी बच्चे शामिल थे यानी जन्म से लेकर 6 वर्ष तक के बच्चों के पोषण, स्वास्थ्य और पूर्व–प्राथमिक शिक्षा को राज्य की जवाबदेही में शामिल किया गया था। **तीसरा,** संविधान ने आठ वर्ष (कक्षा 1–8) की प्रारंभिक शिक्षा का एजेंडा राज्य के सामने रखा था, न कि महज पांच साल की प्राथमिक शिक्षा का। **चौथा,** इस अनुच्छेद को अनुच्छेद 46 के साथ पढ़ा जाना चाहिए जिसमें दलित और आदिवासी बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने के लिए राज्य को निर्देशित किया गया था।

शिक्षा के अधिकार के विमर्श में नया मोड़ सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सन् 1993 में दिये गये उन्नीकृष्णन फैसले से आया। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 45 को खंड तीन के जीवन के हक वाले अनुच्छेद 21 के साथ जोड़कर पढ़ने की जरूरत है चूंकि ज्ञान देनेवाली शिक्षा के बगैर इंसान का जीवन निरर्थक है। इस तरह सर्वोच्च न्यायालय ने सन् 1993 में 14 साल की उम्र तक के बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा दे दिया।

मौलिक अधिकार और शासक वर्ग का नज़रिया

सर्वोच्च न्यायालय के उक्त ऐतिहासिक फैसले के बाद भारत का शासक वर्ग लगातार इस कोशिश में लगा रहा कि किस प्रकार उन्नीकृष्णन फैसले के असर को घटाया या विकृत किया जाए। भारत सरकार की सैकिया समिति रपट (1997) और 83वां संविधान संशोधन विधेयक (1997) व उस पर

मंत्रालय की संसदीय समिति की रपट इस बात की गवाह हैं कि केंद्रीय सरकार ने शिक्षा के मौलिक अधिकार को सीमित करने एवं स्कूली शिक्षा में बाजार की ताकतों को जगह देने के उद्देश्य से चतुर प्रावधान किए। लेकिन सरकार के इस नजरिए की सार्वजनिक तौर पर तीखी आलोचना हुई। अतः अगले चार साल के लिए शिक्षा के अधिकार का मसला ठंडे बस्ते में डाल दिया गया।

नवंबर 2001 में 86वां संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में पेश हुआ। संसद के अंदर और बाहर इस विधेयक के जन–विरोधी चरित्र पर व्यापक बहस हुई – जन सभाएं हुईं व रैलियां निकलीं। स्पष्ट था कि इसको पेश करने का परोक्ष उद्देश्य शिक्षा का हक देना नहीं वरन् सर्वोच्च न्यायालय के उन्नीकृष्णन फैसले से मिले व्यापक हक को छीनना था। जो अधिकार उन्नीकृष्णन फैसले से मिल चुके थे वे भी 86वें संशोधन के चलते छिन गये – खासकर, छह वर्ष से कम उम्र के 17 करोड़ बच्चों को पोषण, सेहत और पूर्व–प्राथमिक शिक्षा का मिला हक। इसके बावजूद सभी राजनैतिक दलों में आपसी सहमति बन गयी और यह विधेयक संसद के दोनों सदनों में सर्वसम्मति से पारित हो गया।

इस संशोधन के जरिए खंड तीन में अनुच्छेद 21(क) जोड़ा गया जिसके तहत 6–14 आयु समूह के बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का मौलिक अधिकार दिया तो गया लेकिन एक शर्त के साथ। शर्त यह है कि शिक्षा का मौलिक अधिकार "उस रीति से दिया जाएगा जो राज्य कानूनन निर्धारित करेगा।" ऐसी शर्त क्यों लगाई गयी, यह समझने के लिए हमें वैश्वीकरण के चलते भारत की शिक्षा नीति और व्यवस्था में जो भारी परिवर्तन हुए हैं उनको जानना होगा।

शिक्षा पर नवउदारवादी आक्रमण

भारत में वैश्वीकरण की शुरूआत की औपचारिक घोषणा तो सन् 1991 में नई आर्थिक नीति की घोषणा के साथ हुई। लेकिन इसके एजेंडे का सूत्रपात 1980 के दशक के मध्य में ही हो चुका था। इसका सबूत संसद द्वारा पारित हमारी 1986 की शिक्षा नीति में मौजूद परस्पर विरोधाभासी बयानों में देखा जा सकता है। एक ओर तो नीति ने कहा कि कोठारी शिक्षा आयोग (1964–66) द्वारा अनुशंसित पड़ोसी स्कूल की अवधारणा पर आधारित समान

स्कूल प्रणाली की ओर बढ़ने के लिए कारगर कदम उठाये जायेंगे। लेकिन दूसरी ओर इस अवधारणा के ठीक विरुद्ध एजेंडा बनाया गया। शिक्षा नीति का यह पहला दस्तावेज है जिसने घोषित किया कि आठ साल की प्रारंभिक शिक्षा सभी बच्चों को स्कूल के जरिए नहीं दी जा सकेगी। संबधित आयु समूह (यानी 6–14 आयु समूह) के कम–से–कम आधे बच्चे ऐसे होंगे जिन्हें स्कूल उपलब्ध नहीं किया जायेगा वरन् उन्हें औपचारिक स्कूल के समानांतर घटिया गुणवत्ता वाली औपचारिकेतर (नॉन–फॉर्मल) धारा के जरिए शिक्षित किया जायेगा। इस समानांतर धारा में नियमित शिक्षक नहीं पढ़ायेंगे – उनकी जगह बगैर अर्हता वाले ठेके पर रखे गये निर्देशक या शिक्षाकर्मी नियुक्त किये जायेंगे। इस तरह **सरकारी स्कूल के नीचे** देश के आधे बच्चों के लिए घटिया शिक्षा की एक परत बिछाने का फैसला हुआ। इसी नीति में एक और परत बिछाने की घोषणा **सरकारी स्कूल के ऊपर** ग्रामीण क्षेत्र के मुट्ठी भर अपेक्षाकृत संपन्न तबके के बच्चों के लिए हुई – यानी नवोदय विद्यालयों की परत। इस तरह 1996 की शिक्षा नीति ने समान स्कूल प्रणाली की जगह बहु–परती शिक्षा व्यवस्था स्थापित करने की वैधानिक घोषणा कर दी जिसने 1990 के दशक में वैश्विक बाजार की ताकतों को शिक्षा के निजीकरण व बाजारीकरण की धरातल दी।

नई आर्थिक नीति के बाद वैश्विक बाजार का प्रतिनिधित्व करनेवाली दो ताकतवर संस्थाओं – अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक – ने भारत सरकार के सामने कर्ज व अनुदान पाने के लिए अपनी शर्तें रखीं। शर्तों के पैकेज का नाम था 'संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम' (स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट प्रोग्राम)। इसके तहत सरकार के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह देश के शिक्षा व स्वास्थ्य समेत सभी समाज विकास और कल्याण कार्यक्रमों पर खर्च घटाये। सरकार ने ये शर्तें स्वीकारीं। उल्लेखनीय है कि कोठारी शिक्षा आयोग ने कहा था कि पूर्व प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च शिक्षा तक उम्दा गुणवत्ता की शिक्षा देने के लिए जरूरी है कि देश के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का कम–से कम 6 प्रतिशत हर वर्ष खर्च किया जाए। इसके बावजूद सन् 1991 की आर्थिक नीति के चलते **अगले 16 सालों में सकल राष्ट्रीय उत्पाद के प्रतिशत के रूप में शिक्षा पर किए जाने वाला खर्च लगातार घटाया गया, सिवाय बीच के दो वर्षों के।** सन् 2007–08 में यह खर्च घटते–घटते बीस वर्ष पूर्व के स्तर पर आ गया यानी सकल राष्ट्रीय उत्पाद का महज 3.5 प्रतिशत। यह इसके बावजूद हुआ है कि सर्व शिक्षा अभियान का लगभग 40

प्रतिशत बजट विश्व बैंक व अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषक संस्थाओं से आता है और वर्तमान संप्रग सरकार प्रारंभिक शिक्षा के नाम पर 2 प्रतिशत और माध्यमिक व उच्च शिक्षा के नाम पर 1 प्रतिशत उपकर अलग से इकट्ठा कर रही है। स्पष्ट है कि जनता के सभी तबकों को समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए शासक वर्ग की राजनैतिक इच्छाशक्ति घटती गयी है। ऐसा करने में वैश्विक बाजार की ताकतों का छिपा हुआ एजेंडा भारत की विशाल सरकारी स्कूल प्रणाली (आज लगभग 12 लाख स्कूल) को ध्वस्त करना था ताकि उसकी जगह फीस लेनेवाले निजी स्कूल ले सकें। इसी एजेंडे का दूसरा पहलू सरकार को शिक्षा के प्रति अपनी संवैधानिक जवाबदेही से बरी होने का मौका भी देना था। लेकिन इतनी बड़ी और स्थापित व्यवस्था को खत्म करना आसान न था। अतः विश्व बैंक ने सन् 1993–94 से सरकारी खर्च में कटौती के फलस्वरूप हुई क्षति की आंशिक पूर्ति के नाम पर शिक्षा के लिए कर्ज व अनुदान का कार्यक्रम शुरू किया जिसको जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी.) के नाम से जाना जाता है। जहां पूरे भारत में केंद्रीय और राज्य सरकारें मिलकर आठ साल की प्रारंभिक शिक्षा पर लगभग रु. 40,000 करोड़ सालाना खर्च कर रहीं थीं वहीं विश्व बैंक ने स्वयं द्वारा प्रायोजित डी.पी.ई.पी. में महज रु. 500–1,000 करोड़ सालाना खर्च करके स्कूली शिक्षा नीति पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। विश्व बैंक और इसकी सहचर अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषक संस्थाओं की इस घुसपैठ के फलस्वरूप अगले 10–15 सालों में भारत की पूरी स्कूल व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गई।

वैश्विक बाजार की इस रणनीति के निम्नांकित तत्व पहचाने जा सकते हैं –

- शिक्षा के समग्र सामाजिक विकास के उद्देश्यों की जगह महज साक्षरता–संबंधी कौशलों ने ले ली।
- समान स्कूल प्रणाली की जगह बहु–परती शिक्षा व्यवस्था स्थापित हुई – हरेक तबके के लिए एक अलग गुणवत्ता की शैक्षिक परत बिछाने का नया समाजशास्त्रीय सिद्धांत गढ़ा गया।
- नियमित शिक्षक की जगह अर्हता–विहीन, प्रशिक्षण–विहीन, कम वेतनभोगी और ठेके पर नियुक्त पैरा–शिक्षक ने ली।
- 1986 की शिक्षा नीति में संसद द्वारा निर्देशित न्यूनतम तीन कक्षा भवन और तीन शिक्षकोंवाले स्कूलों की जगह बहु–कक्षायी अध्यापन

जैसी 'चमत्कारिक' अवधारणा के तहत शिक्षकों को अकेले एक साथ पांच कक्षाओं को पढ़ाने का प्रशिक्षण दिया गया।

- आठ साल की प्रारंभिक शिक्षा के संवैधानिक एजेंडे की जगह पांच साल की प्राथमिक शिक्षा ने ली।
- पाठ्यचर्या को ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों से काटकर बाजार के संदर्भों से जोड़ा गया (संदर्भ – एम.एल. एल. की अवधारणा)।
- शिक्षण पद्धति का निर्धारण शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांतों पर न होकर बढ़ते क्रम में सूचना प्रौद्योगिकी एवं उसका व्यापार करने वाली कंपनियों की तर्ज पर होने लगा।
- सरकार और पंचायती राज संस्थानों जैसे संवैधानिक निकायों की जगह शिक्षा की जिम्मेदारी तेजी के साथ गैर–सरकारी संगठनों (एन. जी.ओ.), कंपनियों व कॉरपोरेट घरानों एवं धार्मिक (सांप्रदायिक समेत) संगठनों को सौंपने का खतरनाक सिलसिला शुरू हुआ।
- शिक्षा नीति के निर्णय हमारी संसद और विधानसभाओं में न होकर देशी व अंतर्राष्ट्रीय बाजार एवं विश्व बैंक के मुख्यालय में होने लगे।
- शिक्षा के अधिकार वाले परिप्रेक्ष्य की जगह बाजार में शिक्षा की कीमत और बच्चे के परिवार की आर्थिक हैसियत वाला परिप्रेक्ष्य स्थापित हुआ।

आज शिक्षा, बाजार में खरीद–फ़रोख्त की वस्तु बन चुकी है और इसे विश्व व्यापार संगठन के पटल पर रखने का फैसला बगैर किसी लोकतांत्रिक बहस के चुपचाप लिया जा चुका है। शिक्षा नीति की जगह अंतर्राष्ट्रीय वित्त पर आधारित तदर्थ स्कीमों व परियोजनाओं (उदा. डी.पी.ई.पी., शिक्षा गारंटी योजना एवं सर्व शिक्षा अभियान) ने ले ली है जिनके तहत स्कूली शिक्षा के समानांतर निम्न गुणवत्तावाली कई शैक्षिक परतें बिछायी जा चुकी हैं। **शर्त केवल एक है – यह वैकल्पिक व्यवस्था केवल गरीब जनता के लिए खड़ी की जायेगी** यानी दो–तिहाई जनता के लिए जिसमें प्रमुखतः दलित, आदिवासी, अति–पिछड़े, अल्पसंख्यक और विकलांग शामिल हैं और इन समुदायों में भी विशेषकर लड़कियां।

इस नई **वैश्वीकृत बहु–परती शिक्षा नीति का छिपा हुआ एजेंडा देश की विशाल सरकारी स्कूल प्रणाली की गुणवत्ता गिराकर उसको इतना जर्जर बना देना था कि उसकी आम जनता में विश्वसनीयता ही खत्म हो जाए। तब गरीब लोग भी अपने बच्चों को वहां से निकाल लेंगे और निजी स्कूलों की तलाश करने लगेंगे।** हुआ भी ठीक यही। एक और बात। सरकारी स्कूल प्रणाली से 1970 के दशक से उच्च एवं मध्यम वर्गों ने जो महापलायन शुरू किया **उस प्रक्रिया में राष्ट्रीय जीवन में अंग्रेजी माध्यम के बढ़ते हुए प्रभुत्व को रेखांकित करने की जरूरत है।** इसके चलते सरकारी स्कूल प्रणाली की गुणवत्ता बरकरार रखने के लिए **आवश्यक राजनैतिक व सामाजिक रूप से प्रभावी आवाज भी लुप्त हो गई।**

आज पूर्व–प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च व प्रोफेशनल स्तर तक की शिक्षा का बाजारीकरण करना सरकारी नीति बन चुकी है। **नीति निर्माण की लगाम संसद व विधानसभाओं से खींचकर वैश्विक बाजार की ताकतों** यानी विश्व बैंक की अगुवाई में सक्रिय अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषक संस्थाओं व देशी–विदेशी कारपोरेट घरानों को सौंपी जा रही है। 11वीं पंचवर्षीय योजना में तो खुलकर शिक्षा के हर पहलू के लिए सार्वजनिक–निजी सहभागिता और स्कूल वाऊचर लागू करने की बात है। इसके साथ–साथ शिक्षा के जरिए वर्ग–भेद, जाति–भेद, धार्मिक कट्टरवाद, नस्लवाद, पितृसत्ता, सामंती व गैर–तार्किक सोच, पिछड़ेपन आदि विकृतियों के खिलाफ लड़ाई आगे बढाने के सरोकार गौण हो रहे हैं। शिक्षा, वैश्विक बाजार की ताकतों के हाथ में वर्चस्ववाद, शोषण, सांप्रदायिकता व विषमता फैलाने का हथियार बनती जा रही है।

एक हकीकत

जी–8 (अमरीका, कनाडा, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस, जापान व इटली) के उच्च–विकसित देशों में अकूत संपदा व ताकत के अलावा एक और साझी बात है – उन सभी देशों में सार्वजनिक धन पर सुचारू रूप से चलनेवाली सबको उपलब्ध पड़ोसी 'समान स्कूल व्यवस्था' है जिसके बगैर वे मुल्क वहां नहीं पहुंच पाते जहां वे आज पहुंच पाये हैं (हाल में इन देशों में भी नवउदारवादी नीतियों का असर दिखने लगा है)। यही बात स्कैंडेनेवियन मुल्कों पर भी लागू होती है। निजी स्कूल खोलना और इस स्तर पर फीस और कैपीटेशन चार्ज लेना पिछड़े मुल्कों की पहचान है। यह भारतीय 'राज्य' द्वारा अपनी संवैधानिक जवाबदेहियों से पल्ला झाड़ने की नीति का सबूत है।

दरअसल, **शिक्षा को मुनाफे का ज़रिया मान लेने से ही तमाम विकृतियों के दरवाजे खुल जाते है।** अधिकांश विकसित देशों में उच्च शिक्षा को भी सरकार धन मुहैय्या कराती है और उनका नियंत्रण भी करती है। सार्वजनिक धन पर चलनेवाली उच्च शिक्षा संस्थाओं में अमरीका में 76 प्रतिशत, फ्रांस में 88 प्रतिशत, रूस में 89 प्रतिशत, कनाडा में 100 प्रतिशत और जर्मनी में भी 100 प्रतिशत विद्यार्थी पढ़ते हैं। **इन विकसित मुल्कों की सरकारें ज्ञान सृजन, संप्रेषण व वितरण में बाजार की भूमिका पर अपने–अपने राष्ट्र हित में सचेत नियंत्रण रखती हैं। लेकिन वे ही ताकतें भारत जैसे विकासशील देशों को बाजार की निर्बाधित और वर्ग–भेद पर आधारित "च्वाइस" यानी "चयन के हक" का भ्रामक पाठ पढ़ाती हैं।** इसी तथाकथित चयन के हक का भ्रम फैलाकर देश का शासक वर्ग हर स्तर पर शिक्षा को वैश्विक बाजार में खरीद–फ़रोख्त की वस्तु बनाने के कदम उठा चुका है। यह रणनीति ज्ञान व्यवस्था पर उच्च वर्ग और उच्च वर्ण के वर्चस्व को बरकरार रखने की रणनीति है।

शिक्षा का अधिकार और समान स्कूल प्रणाली का रिश्ता

निःसंदेह दिसंबर 2002 में हुए 86वें संविधान संशोधन का असली मकसद वैश्वीकरण के चलते 1990 के दशक में हमारी शिक्षा नीति व व्यवस्था में जो विकृतियां आईं थीं उनका वैधानीकरण करना था। लेकिन तब भी इसके द्वारा 6–14 आयु समूह की मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा मिलना भारतीय इतिहास में एक ऐतिहासिक परिघटना है। इसके निम्नलिखित व्यापक निहितार्थ हैं –

1. **प्रारंभिक शिक्षा का मौलिक अधिकार तभी सार्थक होगा जब इसे अन्य मौलिक अधिकारों के साथ जोड़कर दिया जाए।** यानी ऐसी प्रारंभिक शिक्षा नहीं दी जा सकती जो समानता, सामाजिक न्याय, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, मजहब चुनने की स्वतंत्रता या जीने के हक का उल्लंघन करे। इसके साफ मायने हैं कि **पड़ोसी स्कूल की अवधारणा पर आधारित समान स्कूल प्रणाली के जरिए शिक्षा पाना कम–से–कम 6–14 आयु समूह के बच्चों का मौलिक अधिकार बन चुका है।**
2. केवल ऐसी ही प्रारंभिक शिक्षा दी जा सकती है जो संविधान के अनुरूप एक **लोकतांत्रिक, समतामूलक, धर्मनिरपेक्ष एवं प्रबुद्ध समाज के निर्माण** के लिए कारगर हो। कोई भी शिक्षा व्यवस्था या पाठ्यचर्या जो ऐसे

समाज के लिए सक्षम नागरिकता का निर्माण नहीं करती वह मौलिक अधिकार का उल्लंघन करेगी।

3. अनुच्छेद 21(क) के चलते किसी भी स्कूल द्वारा – चाहे वह सहायता–विहीन निजी स्कूल ही हो – 6–14 आयु समूह से **फीस या अन्य किसी भी प्रकार का शुल्क लेना गैर–संवैधानिक होगा।** अब निजी स्कूलों के पास केवल दो विकल्प बचे हैं – वे मुफ्त प्रारंभिक शिक्षा देने के लिए समाज से धन बटोरें या सरकार से अनुदान लें।
4. समतामूलक गुणवत्ता की प्रारंभिक शिक्षा देना राज्य की संवैधानिक जवाबदेही है जिससे बरी होने के इरादे से सरकार संसाधनों की कमी का बहाना नहीं कर सकती। **संसाधनों के आबंटन में प्रारंभिक शिक्षा की तुलना में ऐसे किसी भी अन्य मद को प्राथमिकता नहीं दी जा सकती जो मौलिक अधिकार न हो।** इसका निहितार्थ है कि यदि संसाधन की कमी है तो राज्य की जवाबदेही है कि वह राष्ट्रमंडलीय खेल–2010, कॉरपोरेट घरानों द्वारा लिए गये बैंक कर्जों की माफी एवं विशेष आर्थिक क्षेत्र ('सेज') के लिए कर की छूट, परोक्ष सब्सिडी आदि पर रोक लगाकर प्रारंभिक शिक्षा के लिए निवेश करे। इसके पीछे तर्क है कि उपरोक्त में से कोई भी खर्च कॉरपोरेट भारत का मौलिक अधिकार नहीं है।
5. सर्वोच्च न्यायालय के उन्नीकृष्णन फैसले के अनुसार अनुच्छेद 41 के तहत प्रारंभिक शिक्षा के अलावा **माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा एवं उच्च शिक्षा (तकनीकी व प्रोफेशनल शिक्षा समेत) भी मौलिक अधिकार के दायरे में आते हैं** लेकिन इस अधिकार को राज्य अपनी आर्थिक क्षमता की सीमाओं के मद्देनज़र ही देगा। माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा को खासतौर पर मौलिक अधिकार के दायरे में लाना जन आंदोलन का तात्कालिक एजेंडा बनना चाहिए। इसके बगैर बेहतर कैरियर और उच्च शिक्षा व प्रोफेशनल कोर्सों के सब दरवाजे बंद हैं। निःसंदेह, सामाजिक विकास का सवाल केवल कैरियर और कोर्सों का सवाल नहीं है। लेकिन जब तक वर्तमान जनविरोधी पूंजीवादी विकास का खाका हावी है तब तक शिक्षा को आगे बढ़ने की उपलब्ध तमाम संभावनाओं से जोड़ना मौलिक अधिकार का मुद्दा बनता है। दरअसल, उच्च शिक्षा व प्रोफेशनल संस्थानों में आरक्षण का मुद्दा तभी दलितों, आदिवासियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए विकास के दरवाजे खोल

सकता है जब इन वर्गों के बच्चों को समान स्कूल प्रणाली के खाके में समतामूलक माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा पाने का मौलिक अधिकार मिल जाए। इस दृष्टि से **अनुच्छेद 21(क) में संशोधन करके "18 वर्ष आयु तक के सभी बच्चों" को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का मौलिक अधिकार दिलाना और वह भी बिना किसी शर्त के, जनता की अगली लड़ाई होगी।**

शिक्षा के अधिकार और समान स्कूल प्रणाली पर नए हमले

विगत 2–3 वर्षों में वैश्विक बाजार की ताकतों के हौसले सब हदों को पार कर रहे हैं। इसलिए शिक्षा के अधिकार और समान स्कूल प्रणाली पर हो रहे निम्नांकित नए हमलों को पहचानना जरूरी हो गया है–

- शिक्षा के अधिकार का विधेयक बनाने के लिए हाल में जो बहस चली है उसमें समान स्कूल प्रणाली और पड़ोसी स्कूल की अवधारणा को हाशिए पर धकेलने के लिए एक नया शगूफ़ा छोड़ा गया – निजी स्कूलों में पड़ोस के कमजोर तबके के लिए **25 प्रतिशत आरक्षण का शगूफ़ा।** अचानक सारी बहस समान स्कूल प्रणाली और पड़ोसी स्कूल के महत्वपूर्ण मुद्दे से हटकर निजी स्कूलों के मालिकों की दिक्कतों, वहां के अभिजात माहौल में गरीब व पिछड़ी जातियों के बच्चों को आनेवाली सांस्कृतिक व मनोविज्ञानी परेशानियों और ऐसे आरक्षण के लिए संसाधनों के स्रोतों पर फोकस हो गयी। यह मुद्दा गौण हो गया कि यदि इस प्रावधान के अनुसार 25 प्रतिशत गरीब बच्चे पड़ोस से आयेंगे तो जाहिर है कि **75 प्रतिशत फीस देनेवाले संपन्न बच्चे पड़ोस से नहीं आयेंगे** – तो फिर यह बराबरी हुई अथवा खैरात? क्या संपन्न बच्चों से फीस लेना अनुच्छेद 21(क) का उल्लंघन नहीं होगा? इससे भी बड़ा सवाल तो यह है कि इस प्रावधान से कितने गरीब बच्चों को लाभ मिलने की उम्मीद है। आज प्रारंभिक स्तर पर निजी स्कूलों (मान्यता–विहीन स्कूलों समेत) में दर्ज बच्चे कुल दर्ज संख्या का बमुश्किल 20 प्रतिशत हैं। यानी तमाम निजी स्कूलों की प्रारंभिक शिक्षा देने की क्षमता 6–14 वर्ष आयु समूह के कुल 20 करोड़ बच्चों में से मात्र 4 करोड़ बच्चों की है। यदि निजी स्कूलों की इस क्षमता का पड़ोस के 25 प्रतिशत कमजोर तबके के लिए आरक्षण कर दिया जाये तो इससे लाभान्वित होने वाले बच्चों की संख्या 1 करोड़ से अधिक की नहीं हो सकती। **तो शेष 19 करोड़ बच्चों के**

मौलिक अधिकार का क्या होगा? जाहिर है कि विधेयक में 25 प्रतिशत आरक्षण के प्रावधान का न तो शिक्षा के अधिकार से कोई संबंध है, न समान स्कूल प्रणाली से और ना ही 86वें संशोधन के अनुरूप शिक्षा प्रणाली के पुनर्निर्माण से। तब भी प्रचार यह है कि मौलिक अधिकार का सारा दारोमदार इसी 25 प्रतिशत आरक्षण में है। शायद इसलिए क्योंकि इसके चलते शिक्षा के निजीकरण व बाजारीकरण की रफ्तार और तेज हो जाएगी।

- जून 2006 में योजना आयोग ने 11वीं पंचवर्षीय योजना का दृष्टिपत्र जारी किया। इसमें अचानक बगैर किसी शैक्षिक विमर्श के **स्कूल वाउचर प्रणाली** का प्रस्ताव रखा गया। वाउचर प्रणाली क्या है? इसके अनुसार कमजोर तबके के बच्चों को (कितने बच्चों को, यह नहीं बताया जाएगा) वाउचर दे दिये जाएंगे जिसको लेकर ये बच्चे जिस भी निजी स्कूल में प्रवेश पा लें, उसकी फीस सरकार अदा कर देगी। यह कोई नहीं बता रहा कि क्या ये वाउचर 20 करोड़ बच्चों को दिये जायेंगे। ना ही यह बताया जा रहा है कि इन वाउचरों के जरिए किसी निजी स्कूल की फीस के कितने बड़े अंश का भुगतान किया जायेगा। क्या यह वाउचर कैपीटेशन फीस, भवन विकास फंड और अभिजात तर्ज पर आयोजित वार्षिक पिकनिक/डांस के खर्च का भी भुगतान करेगा? और उस स्थिति में क्या होगा जब अलग–अलग निजी स्कूलों की फीस अलग–अलग होगी? यह भी कोई नहीं बता रहा कि **वाउचर प्रणाली कई देशों में असफल हो चुकी है।** हाल में कुछ लोग वाउचर प्रणाली की जगह निजी स्कूलों में 25 प्रतिशत आरक्षण का शगूफ़ा छोड़कर मौलिक अधिकार की बहस को भ्रमित करने की कोशिश में हैं, जबकि ये निजीकरण की नीति के ही दो अलग–अलग नाम हैं। योजना आयोग की इस मुद्दे पर चुप्पी की एक ही व्याख्या हो सकती है – **वाउचर प्रणाली निजी स्कूलों को पिछले दरवाजे से सरकारी धन उपलब्ध कराने और वैश्विक बाजार को संतुष्ट करने का नायाब तरीका है।**
- 11वीं पंचवर्षीय योजना में स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में सार्वजनिक–निजी सहभागिता (पी.पी.पी.) की जमकर वकालत की गयी है। उदाहरणार्थ, केंद्र की ओर से 6,000 मॉडल स्कूल खोलने का प्रावधान किया गया है। इस वर्ष के बजट में रु. 650 करोड़ का आबंटन भी कर दिया है। इसमें से 2,500 स्कूल पी.पी.पी. की परिपाटी में खोले जाएंगे। इनके लिए निजी

एजेंसियों से टेंडर बुलवाये जाएंगे और इसकी घोषित स्कीम में जमीन, भवन निर्माण एवं उपकरण आदि के लिए **पिछले दरवाजे से सरकारी धन उपलब्ध करवाया जाएगा।** यह सब केवल मुट्ठीभर बच्चों के लिए किया जाएगा चूंकि 12 लाख स्कूलों में करोड़ों बच्चों को उम्दा शिक्षा देने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाए जाएंगे। शिक्षा के अधिकार विधेयक में भी इस निजीकरण को रोकने का कोई प्रावधान नहीं है, वरन् ऐसा करने की इजाजत है।

- जैसा कि ऊपर बताया है कि विगत 15 वर्षों में वैश्वीकरण के तहत **सरकारी स्कूल प्रणाली को ध्वस्त करने की नीति लागू की गयी।** इसमें जब काफी सफलता मिल गयी तो विश्व बैंक और बाजार की अन्य ताकतें विभिन्न सहचर गैर–सरकारी एजेंसियों के जरिए **तथाकथित शोध–अध्ययन आयोजित करके ऐसे आंकड़े पैदा करवा रही हैं** कि किसी तरह सिद्ध हो जाये (यानी भ्रम फैल जाए) कि सरकारी स्कूल एकदम बेकार हो चुके हैं और इनको बंद करना ही देश के हित में होगा। आए दिन रिपोर्टें (उदा. 'प्रथम' की एसर 2007 नामक रिपोर्ट) छप रही हैं यह बताते हुए कि सरकारी स्कूल कितने बदहाल हैं, सरकारी स्कूलों में शिक्षक नहीं हैं, यदि हैं तो वे पढ़ाते नहीं हैं और वहां जाने वाले विद्यार्थी न लिखना जानते हैं और न हिसाब करना। **कोई रपट यह नहीं बताती कि इन स्कूलों के ये बदहाल कैसे हुए और इस प्रक्रिया में देश के शासक वर्ग एवं बाजार की ताकतों की क्या भूमिका रही है।**

कैसा भारत बनाया जा रहा है?

2008–09 वर्ष के केंद्रीय बजट में कल के भारत का नज़रिया साफ झलक रहा है। 6–14 आयु समूह के आधे से अधिक बच्चे प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा 1–8) से वंचित हैं। इसके बावजूद इस उद्देश्य से चलाए जा रहे सर्व शिक्षा अभियान नामक एकमात्र कार्यक्रम के आबंटन में पिछले वर्ष की तुलना में कटौती की गई है – 2007–08 के संशोधित बजट में रु. 13,171 करोड़ का आबंटन था, 2008–09 के अनुमानित बजट में रु. 13,100 करोड़ का है यानी मुद्रास्फीति की भी पूर्ति नहीं की गयी। इसके विपरीत माध्यमिक शिक्षा (कक्षा 9–12) के लिए आबंटन में 2007–08 के संशोधित बजट के मुकाबले 2.8 गुना की वृद्धि हुई। इसी तरह उच्च शिक्षा का आबंटन पिछले साल की तुलना में दुगने से अधिक बढ़ाया गया है। दरअसल, माध्यमिक व उच्च शिक्षा

का आबंटन बढ़ाना एक सही कदम माना जाना चाहिए चूंकि शिक्षा के हरेक स्तर का संतुलित विकास हो, यह तमाम शिक्षक व विद्यार्थी संगठनों की पुरानी मांग रही है। लेकिन यहां दो बिंदुओं पर ध्यान देना जरूरी है। पहला, माध्यमिक व उच्च शिक्षा के आबंटन में बढ़ोतरी प्रारंभिक शिक्षा की कीमत पर की गयी है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि शिक्षा के मौलिक अधिकार का विधेयक एक ढकोसला है। दूसरा, माध्यमिक व उच्च शिक्षा में जो बढ़ोत्तरी हुई है उसका फ़ोकस क्या है, यह समझना जरूरी है। माध्यमिक शिक्षा में बढ़ोत्तरी का एक प्रमुख हिस्सा विशेष श्रेणी के स्कूल शुरू करने के लिए है – जैसे केंद्रीय व नवोदय विद्यालय, कस्तूरबा बालिका विद्यालय और 6,000 नए मॉडल स्कूल। इसका फायदा केवल विशेष प्रकार से चुने गये मुट्ठीभर बच्चों को ही होगा, जबकि अधिकांश आम स्कूलों की उपेक्षा होगी। यानी कमजोर नींव पर मकान बनेगा। उच्च व तकनीकी शिक्षा में आबंटन की बढ़ोत्तरी का बड़ा कारण पिछड़े वर्ग को हाल में दिये गये 27 फीसदी आरक्षण से परेशान उच्च वर्णों के विरोध को संभालने के लिए मोइली समिति की अनुशंसा के अनुसार सामान्य वर्ग की सीटों में 54 फीसदी इज़ाफा करने के लिए सुविधाओं को बढ़ाने का दबाव है। इसके अलावा चंदेक विश्वस्तरीय विश्वविद्यालयों को बनाने के लिए अतिरिक्त आबंटन किया गया है लेकिन यह कदम भी माध्यमिक शिक्षा के मॉडल स्कूलों वाले सवालों के घेरे में आता है – कमजोर उच्च शिक्षा की नींव पर मकान बनाने का सवाल।

आखिरकार, बजट का लब्बोलुआब क्या है? 11वीं योजना के दृष्टिपत्र में लिखा है कि भारत की शिक्षा के सामने सबसे बड़ी चुनौती वैश्विक बाजार के लिए कुशल कारीगरों की फौज तैयार करना है। इसका मतलब है कि संविधान एवं कोठारी आयोग के अनुसार शिक्षा के जरिए लोकतांत्रिक, समाजवादी, समतामूलक व धर्मनिरपेक्ष भारत के लिए सचेत नागरिकता निर्माण का उद्देश्य वैश्वीकरण के युग के भारतीय शासकों को मंजूर नहीं है। इनके लिए शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य वैश्विक बाजार की जरूरतों को पूरा करना और अधिकतम मुनाफा कमाना रहेगा। यही तो पूंजीवादी विकास का सिद्धांत है जिसके चलते समतामूलक सामाजिक विकास और राष्ट्र निर्माण के उद्देश्यों की बली देने की पूरी तैयारी हो चुकी है।

आधे से अधिक बच्चे जो उम्दा शिक्षा से वंचित रह जाएंगे उन्हें महज साक्षर बनाया जाएगा ताकि वे वैश्विक बाजार के उत्पादों के लेबल व विज्ञापन पढ़

सकें और खरीददार बन सकें। लगभग 30–35 फीसदी को 10वीं या 12वीं तक की मामूली स्तर की इतनी शिक्षा दी जाएगी ताकि वे नए कंप्यूटरीकृत कारखानों में तकनीशियन बनकर बाजार के लिए उत्पादन कर सकें। लेकिन बाजार को आगे बढ़ाने के लिए नए ज्ञान का निर्माण भी जरूरी है। ज्ञान निर्माण के लिए केवल 10–15 फीसदी लोग काफी होंगे। उसके लिए माध्यमिक स्तर पर विशेष श्रेणी के स्कूल और उच्च शिक्षा के स्तर पर चंदेक विश्वस्तरीय विश्वविद्यालयों के टापू बनाने का काम शुरू हो गया है। इसके लिए गरीब बच्चों में से भी प्रतिभाओं को खोजा जाएगा। आखिर, वे बच्चे जो गरीबी और जातीय पिछड़ेपन के बावजूद बाजार के पैमाने पर प्रतिभावान बन पाए, वे असल में विलक्षण प्रतिभा के होंगे और उनकी वैश्विक पूंजी को अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए सख्त जरूरत है। इसीलिए इस वर्ष से केंद्र ने माध्यमिक स्तर पर एक लाख छात्रवृत्तियों की घोषणा कर दी है जिन्हें चयन परीक्षा की छन्नी लगाकर उनके ही समाज से अलग कर दिया जाएगा यानी पिछड़े समाजों में सरोकार वाला प्रबुद्ध नेतृत्व विकसित होने की संभावनाएं खत्म कर दी जाएंगी। तो यह है इंसान को वैश्विक पूंजी के लिए उपयोगी संसाधन बनाने वाली और सेंसेक्स के निर्बाध मुनाफे की चकाचौंध पर टिकी हुई शिक्षा नीति का नया राजनीतिक अर्थशास्त्र।

ज्ञान अर्थव्यवस्था का चरित्र

दरअसल, शिक्षा की मुख्य लड़ाई सिर्फ समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा सबको उपलब्ध कराने और इस मकसद से उसका निजीकरण व बाजारीकरण रोकने मात्र की नहीं है। **असली लड़ाई तो शिक्षा में निहित ज्ञान के चरित्र – राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक – पर नियंत्रण की है।** आप तय कीजिए कि आप कैसा भारत और उसके जरिए कैसी दुनिया चाहते हैं और इसके निर्माण के लिए आप कैसी ज्ञान अर्थव्यवस्था विकसित करना चाहेंगे? ज्ञान के इस 'संघर्ष और निर्माण' में भारत की जनता की क्या भूमिका होगी? आज देश के विभिन्न अंचलों में वैश्वीकरण की मार सह रही मेहनतकश लेकिन गरीब जनता जल–जंगल–जमीन–जीविका के चार संसाधनों को अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक मानकर संघर्ष कर रही है। इस संघर्ष में **समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा और उसमें निहित ज्ञान को पांचवे संसाधन के रूप में जोड़ने** के सवाल पर व्यापक विमर्श विकसित करने की जरूरत है। इसी संघर्ष के जरिए ही यह संभव होगा कि हम भारत की शिक्षा का

पुनर्निर्माण आम जनता के हित में कर पायेंगे। तभी वैश्विक शांति के लिए – न कि वैश्विक बाजार द्वारा शोषण, मुनाफे और वर्चस्व बढ़ाने के लिए – जनोन्मुखी ज्ञान अर्थव्यवस्था खड़ी हो पायेगी। तभी संविधान निर्माताओं का भारत में लोक–कल्याणकारी राज्य का निर्माण करने और साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई आगे बढ़ाने के लिए एक आवश्यक शर्त के रूप में भारत की संप्रभुता का सपना साकार हो पाएगा।■

बहु–परती शिक्षा, भेदभाव की शिक्षा,
यह कानून नहीं, धोखा है!

शिक्षा कॉरपोरेट हब नहीं,
भारत की जनता का हक है!

शिक्षा का अधिकार : समानता और सामाजिक न्याय का सवाल[5]

सन् 1911 में जब गोपाल कृष्ण गोखले ने इम्पीरियल असेम्बली में मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का बिल पेश किया तब दरभंगा (बिहार) के महाराजा ने इसके खिलाफ बड़े जमींदारों के 11,000 दस्तखतों वाली याचिका तैयार की। इसमें कहा गया था कि यदि बच्चों का स्कूल जाना अनिवार्य हो जायेगा तो खेतों में मजदूरी के लिए बच्चे नहीं मिलेंगे। गोखले के बिल के प्रतिरोध की दूसरी मुखर आवाज तत्कालीन नव–धनाढ्य वर्ग की ओर से उठी। गोखले का बिल पारित नहीं हो सका।

शायद आज भी इसी अभिजात् वर्ग की 95 साल पुरानी आवाज को तवज्जो दी जा रही है। वैश्वीकरण के चलते अभिजात् वर्ग 'कॉरपोरेट इंडिया' बनकर भारत की नियति तय कर रहा है। तभी तो प्रधानमंत्री ने फैसला किया है कि उनकी संप्रग सरकार 86वें संविधान संशोधन के जरिए दिसंबर 2002 में प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा 1–8) के मौलिक अधिकार बनने के बावजूद शिक्षा के अधिकार का बिल संसद में पेश नहीं करेगी। जून 2006 में केंद्र ने सभी राज्य सरकारों को एक तथाकथित मॉडल बिल भेजकर बड़ी चतुराई से अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पल्ला झाड़ लिया। लेकिन ऐसा बिल बनाना खंड तीन में जोड़े गये अनुच्छेद 21(क) के तहत सरकार की जवाबदेही बन चुका है चूंकि उसके अनुसार 6–14 वर्ष आयु समूह के बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा उस "रीति से दी जाएगी जिसका निर्धारण राज्य कानूनन करेगा।" अनुच्छेद 12 के अनुसार राज्य में केंद्र व संसद, राज्य सरकारें व विधानसभाएं एवं स्थानीय निकाय सभी आ जाते हैं। लेकिन केंद्र के इस नये कदम के चलते संविधान में शिक्षा को दिए गए समवर्ती दर्जे का अर्थ हमेशा के लिए खत्म हो सकता है। समवर्ती विषय का निहितार्थ है कि इसके प्रति केंद्र, राज्य सरकारों और स्थानीय निकायों सभी की संयुक्त जवाबदेही रहेगी। शिक्षा को दिशा व गति देने, उसकी नीति बनाने और आवश्यक वित्त उपलब्ध

---

[5]'दैनिक हिंदुस्तान', नई दिल्ली, में दो क्रमबद्ध अंकों में प्रकाशित – भाग एक "कमजोर राजनैतिक इच्छा की शिकार शिक्षा" (01 सितंबर 2006) एवं भाग दो "बाजार और कारोबार से जूझता मौलिक अधिकार" (02 सितंबर 2006)।

कराने में केंद्र की निर्णायक भूमिका रही है। मॉडल बिल ने केंद्र की इस भूमिका को खत्म करने के लिए रास्ता खोल दिया है।

केंद्र ने राज्य सरकारों को जारी अपने तुगलकी आदेश में कहा कि यदि वे संलग्न तथाकथित मॉडल बिल को अपनी–अपनी विधानसभाओं में ज्यों–का–त्यों पारित करवा लेते हैं तो उन्हें सर्व शिक्षा अभियान के तहत 75:25 के अनुपात में दिए जानेवाला अनुदान 11वीं पंचवर्षीय योजना में भी मिलता रहेगा। अन्यथा इसे घटाकर 50:50 के अनुपात में दिया जाएगा। इस आदेश ने शिक्षा के मौलिक अधिकार की उदात्त अवधारणा को सर्व शिक्षा अभियान जैसी विवादास्पद स्कीम का पर्याय बना दिया है। यदि किसी राज्य सरकार को मॉडल बिल का संविधान–विरोधी, निजीकरण समर्थक एवं विश्व बाजार के एजेण्डे वाला स्वरूप स्वीकार नहीं हो तो क्या केंद्र अपना अनुदान घटा देगा? बिहार सरकार ने हाल में समान स्कूल प्रणाली आयोग गठित करने की घोषणा कर दी है। इसे निजी स्कूलों को शामिल करते हुए अनुच्छेद 21(क) के तहत नया बिल तैयार करने एवं समान स्कूल प्रणाली विकसित करने हेतु चरणबद्ध योजना व उसके वित्तीय भार की अनुशंसा करने का काम दिया गया है। क्या बिहार राज्य सरकार का यह कदम केंद्र को अपना अनुदान घटाने का बहाना दे देगा?

केंद्र ने शिक्षा के अधिकार के बिल से अपना पल्ला क्यों झाड़ा? यह सवाल संसद के हाल में खत्म हुए मानसून सत्र के दौरान तीन बार हुए विरोध प्रदर्शनों में जनता ने पूछा। दो प्रदर्शन तो मानसून सत्र के पहले दिन ही हुए – एक दिल्ली के जंतर–मंतर पर 'समान स्कूल प्रणाली की जनमुहिम' द्वारा आयोजित धरना था तो दूसरा प्रदर्शन बंगलूर में विख्यात कन्नड साहित्यकार प्रो. यू. आर. अनन्तमूर्ति के नेतृत्व में हुआ। तीसरा 18 अगस्त को जंतर–मंतर पर अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षक संघ का धरना था। जनता यह सवाल केवल प्रधानमंत्री और संप्रग सरकार से ही नहीं बल्कि उनकी समर्थक सभी राजनैतिक पार्टियों और विपक्ष से भी पूछ रही है चूंकि संसद में सभी दल इतने महत्वपूर्ण मुद्दे पर रहस्यमय चुप्पी साधे हुए हैं।

86वें संशोधन के बाद राजग सरकार ने इस कानून के तीन प्रारूप तैयार किए थे। तीसरा प्रारूप जनवरी 2004 में तैयार हुआ जिसमें सरकार को शिक्षा के प्रति अपनी जवाबदेही से मुकरने देने, गैर–बराबरी बढ़ाने वाली शिक्षा देने और स्कूली शिक्षा का व्यापक निजीकरण करने का एजेंडा था।

लेकिन आम चुनाव घोषित होने से यह बिल संसद में नहीं आ सका। संप्रग सरकार ने अगस्त 2004 में बिल का नया प्रारूप बनाने हेतु केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ('केब') की एक समिति विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी राज्यमंत्री कपिल सिब्बल की अध्यक्षता में गठित कर दी। कपिल सिब्बल समिति में बिल की बुनियादी अवधारणा और उद्देश्यों को लेकर गहरे मतभेद हुए जिनका समाधान आज तक नहीं हो सका है।

समकालीन भारत को दो स्पष्ट चरणों में देखने की जरूरत है – एक 86वें संशोधन के पहले का भारत और दूसरा इसके बाद का। प्रारंभिक शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा मिलने के बाद शिक्षा पर चल रही सार्वजनिक बहस में तीन प्रमुख मुद्दे उभरे हैं। **पहला,** 6–14 वर्ष आयु समूह के बीस करोड़ बच्चों की शिक्षा के प्रति 'राज्य' यानी केंद्र व राज्य सरकारों की संयुक्त संवैधानिक जवाबदेही के मायने और दायरे क्या हैं। **दूसरा,** अनुच्छेद 21(क) के तहत मिले शिक्षा के अधिकार का खंड तीन के अन्य मौलिक अधिकारों के साथ क्या अंतर्संबंध है, खासकर समानता और सामाजिक न्याय के साथ। **तीसरा,** क्या शिक्षा को बाजार में खरीद–फ़रोख्त की वस्तु व मुनाफे का ज़रिया माना जा सकता है और इस संदर्भ में निजी स्कूलों की शिक्षा का अधिकार देने में क्या जवाबदेही होगी।

पहला मुद्दा। अनुच्छेद 21(क) का निहितार्थ है कि 'राज्य' को मुफ्त व अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा सभी बच्चों को देने के लिए पर्याप्त संसाधन प्राथमिकता बतौर उपलब्ध कराने होंगे। शिक्षा के लिए संसाधनों की कमी की बात करना तो पुराना बहाना है। नई आर्थिक नीति की सन् 1991 में घोषणा के बाद सकल राष्ट्रीय अनुपात के प्रतिशत के रूप में शिक्षा पर किए जानेवाले खर्च में लगातार कमी आई है। संप्रग सरकार के आने के बाद भी राष्ट्रीय आय के कुल प्रतिशत के रूप में यह खर्च कम होता गया है और आज इसका स्तर इतना कम हो गया है जो कि बीस वर्ष पहले था यानी सकल राष्ट्रीय उत्पाद का महज 3.5 प्रतिशत। कमी इसके बावजूद आई है कि केंद्र ने शिक्षा के नाम पर 2 प्रतिशत अधिभार वसूला है और सर्व शिक्षा अभियान का लगभग 40 प्रतिशत खर्च विश्व बैंक व अन्य अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों से अनुदान या कर्ज के रूप में लिया है। यानी, सरकार की शिक्षा में निवेश करने की राजनैतिक इच्छाशक्ति लगातार घटती गई है।

जो सरकार शिक्षा के लिए पैसों की कमी का रोना रोती है वह राष्ट्रकुल खेल 2010 के लिए रु. 80,000 करोड़ से अधिक खर्च करने का मन बना चुकी है। रिजर्व बैंक की नॉन परफार्मिंग एसेट्स रपट के अनुसार सरकार व्यापारिक घरानों द्वारा लिए गये दसियों हजार करोड़ के बैंक कर्ज माफ कर चुकी है। इस वर्ष राष्ट्रीय आय रु. 35 लाख करोड़ का आंकड़ा पार कर लेगी। एक विशेषज्ञ अनुमान के अनुसार यदि सकल राष्ट्रीय उत्पाद का सिर्फ डेढ़ प्रतिशत (यानी रु. 53 हजार करोड़) प्रारंभिक शिक्षा पर अतिरिक्त खर्च किया जाए तो अगले छह वर्षों में समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा का अधिकार मिल जायेगा। इसलिए सवाल पैसों की कमी का कतई नहीं है वरन् राष्ट्रीय प्राथमिकताओं का है। **शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा मिलने के बाद ऐसे किसी भी मद को शिक्षा की तुलना में अधिक प्राथमिकता नहीं दी जा सकती जो स्वयं मौलिक अधिकारों की श्रेणी में नहीं आता हो।** निःसंदेह, न तो राष्ट्रकुल खेल 2010 और ना ही कर्जमाफी 'कॉरपोरेट इंडिया' का मौलिक अधिकार हैं! शासक वर्ग संसाधनों की कमी का बहाना केवल इसलिए लगाता है चूंकि गरीब बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देना उसके हित में नहीं है।

दूसरा मुद्दा शिक्षा के अधिकार और अन्य मौलिक अधिकारों के अंतर्संबंध का है। खंड तीन के अनुच्छेद 14, 15 एवं 16 समानता और सामाजिक न्याय की बुनियाद पर खड़े हैं। क्या अनुच्छेद 21(क) के तहत ऐसी शिक्षा दी जा सकती है जो भेदभावपूर्ण हो या फिर सामाजिक न्याय में बाधक हो? मसलन, अभिजात् व मध्यम वर्ग के बच्चों को गुणवत्तापूर्ण स्कूलों में पढ़ने का मौका मिले जहां तमाम शैक्षिक सुविधाएं एवं अर्हता–प्राप्त प्रशिक्षित शिक्षक पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हों। इसके विपरीत निम्न मध्यम वर्ग व गरीब बच्चों को नाना प्रकार के घटिया गुणवत्तावाले औपचारिकेतर (नॉन–फॉर्मल) केंद्र, वैकल्पिक स्कूल, शिक्षा गारंटी सेंटर आदि दिए जाएं जहां अर्हता–विहीन, प्रशिक्षण–विहीन एवं 8–10 गुना कम वेतन पर ठेकेनुमा पैरा–टीचर मिलें। साथ में, शिक्षकों की संख्या इतनी कम हो कि एक शिक्षक एक ही समय में पांच कक्षाएं पढ़ाए। नब्बे के दशक में वैश्वीकरण के दबाव में (उदा. विश्व बैंक की डी.पी.ई.पी. में) समानांतर शिक्षा की धाराओं को बढ़ावा मिला – हर तबके को उसकी हैसियत के अनुसार अलग गुणवत्तावाली शिक्षा देने का खतरनाक समाजशास्त्रीय सिद्धांत गढ़ा गया।

कोठारी शिक्षा आयोग (1966) द्वारा अनुशंसित और 1986 की शिक्षा नीति में शामिल समान स्कूल प्रणाली के अनुसार हर बच्चे–बच्ची को, चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति, लिंग, मजहब अथवा भाषा की हो, उसे अपने पड़ोस के स्कूल में पढ़ना होगा। शिक्षा के निजीकरण की ताकतों को यह मंजूर नहीं था। अतः बहु–परती शिक्षा की नीति अपनायी गयी। गैर–बराबरी एवं सामाजिक विषमता को आगे बढ़ानेवाली विश्व बैंक की इस दृष्टि को आधार बनाकर 10वीं पंचवर्षीय योजना में सर्व शिक्षा अभियान शुरू किया गया। कोई भी नीति जो बहु–परती शिक्षा को आगे बढ़ाती है वह कभी भी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने में सफल नहीं हो सकती और बगैर गुणवत्ता की शिक्षा कभी भी जनता को स्वीकार्य नहीं होगी। सर्व शिक्षा अभियान की असफलता का आधार यही है।

'केब' की कपिल सिब्बल समिति का प्रारूप कहता है कि निजी स्कूलों को अपनी 25 प्रतिशत सीटों पर पड़ोस के गरीब बच्चों को मुफ्त शिक्षा देनी होगी। 25 प्रतिशत के फार्मूले का फल यह हुआ कि आगामी महीनों में पूरी बहस शिक्षा के अधिकार के मुद्दे से हट कर इस बात पर फोकस हो गई कि इससे निजी स्कूलों के मालिकों और शिक्षा के वैश्विक बाजार को कितना घाटा होगा। मध्यम व अभिजात् वर्ग को यह चिंता सताती रही कि उनके बच्चों को निचली जाति के बच्चों के साथ पढ़ने में कितनी तकलीफ होगी। समान स्कूल प्रणाली का मसला शिक्षा के अधिकार के विमर्श से ही बाहर हो गया। इसके बावजूद समिति के कुछ मुखर सदस्य 25 प्रतिशत के प्रावधान को एक 'महान प्रगतिशील कदम' के रूप में पेश कर रहे हैं।

समानता और सामाजिक न्याय के संदर्भ में 0–6 वर्ष एवं 14–18 आयु समूहों का सवाल उठाना सटीक होगा। 1986 की शिक्षा नीति के अनुसार 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों को यदि पोषण, स्वास्थ्य एवं पूर्व–प्राथमिक शिक्षा की सुविधाएं नहीं मिलेंगी तो वे प्रारंभिक शिक्षा के लिए भी तैयार नहीं हो पाएंगे। इसके बावजूद 86वें संशोधन में इस आयु समूह के 17 करोड़ बच्चों को इस अधिकार से वंचित कर दिया। इसी प्रकार प्रारंभिक शिक्षा पाने के बाद बच्चे कहां जाएंगे यदि उन्हें माध्यमिक स्तर (कक्षा 9–10) एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर (कक्षा 11–12) के स्कूल उपलब्ध नहीं होंगे। 12वीं कक्षा के सर्टिफिकेट के बगैर उच्च शिक्षा और अन्य सभी कैरियरों के सभी दरवाजे बंद हैं। अतः

18 वर्ष की उम्र तक के सभी बच्चों को शिक्षा का मौलिक अधिकार देना समानता और सामाजिक न्याय का आवश्यक एजेंडा बन चुका है।

तीसरा मुद्दा। वैश्विक बाजार की ताकतें चाहती हैं कि शिक्षा बाजार में खरीद–फ़रोख्त की वस्तु बन जाए ताकि इसके ज़रिए मुनाफा कमाया जा सके। यदि ये ताकतें अपने मकसद में सफल हो जाती हैं तो फिर शिक्षा के अधिकार के क्या मायने रह जाएंगे? **अनुच्छेद 21(क) में मुफ्त शिक्षा का सिद्धांत स्थापित होने के बाद कोई भी स्कूल, चाहे वह सरकारी हो या गैर सरकारी, प्रारंभिक शिक्षा के स्तर पर किसी भी प्रकार की फीस नहीं ले सकता। दरअसल, अनुच्छेद 21(क) ने फीस की अवधारणा को ही गैर–संवैधानिक बना दिया है।** मुफ्त शिक्षा तभी मुफ्त होगी जब फीस के अलावा मां–बाप को बच्चों की पढ़ाई पर नाना प्रकार के जो खर्च करने पड़ते हैं उनसे भी पूरी छूट मिले। मसलन, गरीब परिवारों को अपने बच्चों से मजदूरी न करवाकर स्कूल भेजने पर जो आर्थिक नुकसान होता है उसकी क्षतिपूर्ति की जरूरत अब मुफ्त शिक्षा का अंग मानी जा चुकी है।

इस दृष्टि से निजी स्कूलों की संवैधानिक जिम्मेदारी को नए सिरे से परिभाषित करने की जरूरत है। यदि सरकार समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा देने के लिए समान स्कूल प्रणाली की नीति अपनाती है तो निजी स्कूलों की हाल के वर्षों में बनी सामाजिक जगह अपने–आप सिकुड़ती जाएगी। जी–8 के सभी विकसित राष्ट्रों ने किसी–न–किसी रूप में समान स्कूल प्रणाली को अपनाया है। लेकिन सिद्धांततः निजी स्कूलों के अस्तित्व पर कोई संवैधानिक आपत्ति नहीं हो सकती जब तक कि वे संवैधानिक दायरे में काम करें यानी अनुच्छेद 21(क) के तहत अपने पड़ोस के सभी बच्चों को मुफ्त शिक्षा दें और समान स्कूल प्रणाली के तहत अपनी जवाबदेही पूरी करें। वैसे भी इन तथाकथित सहायताविहीन स्कूलों को रियायती दरों पर जमीनें, आयकर से छूट, सरकारी खर्च पर प्रशिक्षित शिक्षक और सरकार द्वारा मुफ्त पुलिस सुरक्षा व अन्य प्रकार की सार्वजनिक सुविधाएं उपलब्ध होती हैं।

कुछ लोग भ्रम फैलाते हैं कि समान स्कूल प्रणाली का मतलब सरकारी स्कूल व्यवस्था है। कोठारी शिक्षा आयोग ने अपनी रपट में मध्यम वर्ग के सरकारी स्कूलों से शुरू हो रहे पलायन पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा था कि यदि ऐसा होता रहा तो सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता में भारी गिरावट आयेगी। आयोग का तर्क था कि तब शासकवर्ग की सरकारी स्कूल व्यवस्था की

गुणवत्ता बरकरार रखने की राजनैतिक इच्छाशक्ति नहीं बचेगी। जो हुआ वह इससे भी बुरा था। आर्थिक नीतियों के उदारीकरण के चलते नब्बे के दशक में ही फैसला हो गया कि दस लाख से अधिक सरकारी स्कूलों की व्यवस्था को ध्वस्त करना है तो इसकी गुणवत्ता को गिरने दिया जाये। जब गुणवत्ता गिरेगी तब गरीब मां–बाप भी अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों से निकालकर आस–पास निजी स्कूल खोजेंगे। फलस्वरूप, कम फीसवाले और अंग्रेजी सिखाने का ढोंग करने वाले स्कूल कुकुरमुत्तों की तरह फैलेंगे। यदि कम फीस की भी हैसियत नहीं होगी तो ऐसे बच्चे बाल मजदूरों की फौज में शामिल हो जायेंगे। साफ है कि **समान स्कूल प्रणाली, निजी स्कूलों को शामिल किए बगैर विकसित ही नहीं हो सकती।** इस प्रणाली की सफलता के लिए आवश्यक शर्त है कि सभी स्कूलों का स्तर कम–से–कम केंद्रीय विद्यालयों का हो। आखिरकार, संविधान में तो यह कहीं नहीं लिखा है कि अच्छी शिक्षा के लिए हरेक बच्चे–बच्ची को किसी सरकारी कर्मचारी के घर में पैदा होना जरूरी होगा!

देश की दो–तिहाई जनता को अब विश्व बाजार की तर्ज पर 'कॉरपोरेट इंडिया' की कठपुतली बनना स्वीकार नहीं है। अतः उसने शिक्षा के अधिकार को समान स्कूल प्रणाली से जोड़कर अपना प्रति–एजेंडा बना लिया है। इसीलिए बराबरी और सामाजिक न्याय की ओर ले जानेवाली शिक्षा की इस मुहिम के साम्राज्यवाद–विरोधी स्वरूप को पहचानने की जरूरत उभर रही है। जन–आंदोलनों में भी बहस शुरू हो चुकी है कि जल–जंगल–जमीन की लड़ाई में शिक्षा चौथा संसाधन बनेगी। तभी संविधान में निहित समानता एवं सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को देश के धरातल पर उतारा जा सकेगा।■

—————————

निजी हाथों में शिक्षा बेचारी, कहां है सरकार की जिम्मेदारी ?

खंड - दो

आंकडों से झांकती नवउदारवादी नीतियां

विदेशी सहायता, मानदंड और स्तर, सार्वजनिक खर्च

पहला मुद्दा

शिक्षा में विदेशी सहायता के मायने

हम शिक्षा के लिए विदेशी सहायता क्यों लेते हैं? इस सवाल के जवाब में आमतौर पर कहा जाएगा कि भारत एक गरीब देश है और हमारी आबादी इतनी ज्यादा है कि बेचारी सरकार क्या करे। इसलिए सभी बच्चों को पढ़ाने के लिए मजबूरी में विदेशी सहायता लेनी पड़ती है।

हकीकत क्या है?

आज़ादी के बाद सन् 1993–94 पहला साल था जब भारत सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के लिए एक नीति के तहत विश्व बैंक और उसके प्रायोजन में अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषक एजेंसियों से ऋण/अनुदान लेना शुरू किया। इसी मदद से बहुचर्चित 'जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' (डी.पी.ई.पी.) चला जो सन् 2000 में शुरू किए गए सर्व शिक्षा अभियान का पूर्वाभ्यास था। उसके पहले भारत सरकार ने आंध्र प्रदेश और बिहार में सीमित इलाकों के लिए परियोजना बतौर छुटपुट अंतर्राष्ट्रीय सहायता ली थी। सन् 1993–94 में सात प्रदेशों से शुरू होकर सन् 2001–02 तक डी.पी.ई.पी. देश के 18 प्रदेशों और लगभग आधे जिलों में फैल चुका था और तब इसके तहत होनेवाला खर्च अपने चरम पर था। निःसंदेह, प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में डी.पी.ई.पी. तब तक की विदेशी सहायता से चलनेवाली सबसे बड़ी स्कीम थी। इसके बाद डी.पी.ई.पी. का स्वीकृत परियोजना काल समाप्त हो गया और इसको अगले 2–3 सालों में समेट दिया गया।

तालिका क्र. 1 (क)

जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी.) को अधिकतम विदेशी सहायता

वर्ष	राष्ट्रीय सकल घरेलू उत्पाद (लाख करोड़ रुपयों में)	शिक्षा पर कुल खर्च (करोड़ रुपयों में)	विदेशी सहायता (करोड़ रुपयों में)	विदेशी सहायता (राष्ट्रीय सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में)	विदेशी सहायता (शिक्षा[6] पर कुल खर्च के प्रतिशत के रूप में)
1999–2000	17.62	74,816	682.8	0.039	0.91
2000–01	19.18	82,486	858.3	0.045	1.04
2001–02	20.82	79,866	1,100.0	0.053	1.38

उपरोक्त तालिका क्र. 1 (क) में डी.पी.ई.पी. के तहत उसके चरम काल के तीन सालों के दौरान मिली विदेशी सहायता का आंकड़ों के आधार पर विश्लेषण पेश किया गया है। इससे स्पष्ट है कि डी.पी.ई.पी. के लिए मिली विदेशी सहायता सन् 1999–2000 से सन् 2001–02 तक के तीन सालों के दौरान राष्ट्रीय सकल घरेलू उत्पाद (भारत की कुल सालाना आमदनी का एक पैमाना) के महज 0.039 से 0.053 प्रतिशत के बीच रही। यानी भारत की सालाना आय के हर 100 रुपए में से शिक्षा के लिए ली गई विदेशी मदद महज 39 से 53 पैसे थी।

तालिका क्र. 1 (ख) दिखाती है कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय की सभी विदेशी सहायता प्राप्त परियोजनाओं या स्कीमों (जिसमें डी.पी.ई.पी. भी शामिल है) के लिए मिली विदेशी सहायता उक्त की तुलना में थोड़ी सी ही अधिक थी।

[6]यहां 'शिक्षा पर कुल खर्च' के मायने सरकार (केंद्र एवं राज्य दोनों) द्वारा पूरी शिक्षा व्यवस्था पर किए गए सार्वजनिक खर्च से है जिसमें प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा 1–8), माध्यमिक शिक्षा (कक्षा 9–12) एवं उच्च/तकनीकी/प्रोफ़ेशनल शिक्षा पर किया गया सार्वजनिक खर्च शामिल है।

तालिका क्र. 1 (ख)

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की विदेशी मदद से संचालित सभी शैक्षिक परियोजनाओं को प्राप्त कुल सहायता*

वर्ष	राष्ट्रीय सकल घरेलू उत्पाद (लाख करोड़ रुपयों में)	शिक्षा पर कुल खर्च (करोड़ रुपयों में)	विदेशी सहायता (करोड़ रुपयों में)	विदेशी सहायता (राष्ट्रीय सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में)	विदेशी सहायता (शिक्षा पर कुल खर्च के प्रतिशत के रूप में)
1999–2000	17.62	74,816	729.1	0.041	0.97
2000–01	19.18	82,486	947.6	0.049	1.15
2001–02	20.82	79,866	1,210.0	0.058	1.52

*'मंत्रालय की 'विदेशी मदद से संचालित सभी शैक्षिक परियोजनाओं' में डी.पी.ई.पी., शिक्षाकर्मी (राजस्थान), महिला समाख्या (गुजरात, उत्तर प्रदेश, बिहार एवं कर्नाटक), लोक जुंबिश (राजस्थान) तथा भारत सरकार–संयुक्त राष्ट्र कार्यक्रम (चयनित प्रखंड) और अन्य भी शामिल हैं।

स्रोत – तालिका क्र. 1 (क) एवं (ख)

(1) आर्थिक सर्वेक्षण 2002–03 से 2004–05, वित्त मंत्रालय, भारत सरकार।

(2) 'एनालिसिस ऑफ़ बजटेड एक्सपेंडीचर ऑन एज्युकेशन', 1999–2000 से 2001–02 एवं अगले दो साल, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, विश्लेषणात्मक तालिका क्र. 1.

(3) तिलक, जे.बी.जी. (2003), 'ए स्टडी ऑन फ़ाईनेंसिंग ऑफ़ एज्युकेशन इन इंडिया विद ए फ़ोकस ऑन एलिमेंटरी एज्युकेशन', साउथ एशिया ईएफ़ए फ़ोरम, नीपा, नई दिल्ली, मई 2003, तालिका क्र. 31.

इसी तरह पूरी शिक्षा व्यवस्था पर सरकार (केंद्र व राज्य दोनों) द्वारा किए जा रहे कुल सार्वजनिक खर्च की तुलना में डी.पी.ई.पी. के लिए मिली विदेशी सहायता 0.91 से 1.38 प्रतिशत के बीच रही। तालिका क्र. 1 (ख) के अनुसार सभी विदेशी सहायता प्राप्त परियोजनाओं या स्कीमों के लिए प्राप्त विदेशी मदद पूरी शिक्षा व्यवस्था पर किए गए कुल सार्वजनिक खर्च के 0.97 से 1. 52 प्रतिशत के बीच रही। इसका मतलब है कि यदि सरकार ने उन तीन

सालों में शिक्षा पर 100 रुपए खर्च किए तो उसमें से महज नब्बे पैसे से डेढ़ रुपए तक विदेशी सहायता से आए। उसके पहले के सालों में तो विदेशी सहायता के योगदान का अनुपात इससे भी कहीं ज्यादा कम था।

आगे के लिए सवाल

यदि तालिका क्र.1 (क) व (ख) के अनुसार शिक्षा में विदेशी सहायता का योगदान नाममात्र का है तो दो सवाल पूछे जा सकते हैं। एक, विश्व बैंक और अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषक एजेंसियों का ऐसी सहायता देने का मकसद क्या था? दो, केंद्रीय एवं राज्य सरकारों की क्या मजबूरी थी कि इस नाममात्र की सहायता को स्वीकारा? जरा सोचिए, जो सरकारें शिक्षा के लिए 100 रुपए में से 98.5 रु. से 99 रु. तक जुटा सकती हैं वे क्या नब्बे पैसे से डेढ़ रु. की अतिरिक्त राशि का इंतज़ाम नहीं कर सकती थीं? इन दोनों सवालों के उत्तर एक ही सूत्र में बंधे हुए हैं। जैसा कि खंड एक में स्पष्ट किया गया है, विश्व बैंक का अघोषित एजेंडा भारत की सरकारी स्कूल व्यवस्था को ध्वस्त करना था ताकि स्कूली शिक्षा के निजीकरण की रफ़्तार तेज की जा सके। इसके लिए सरकारी स्कूल व्यवस्था की निर्णय प्रक्रिया में घुसपैठ करना और उस पर हावी होना ज़रूरी था। विश्व बैंक की दृष्टि से इस घुसपैठ और कब्जे की लागत जितनी कम हो उतना बेहतर होगा। भारत सरकार ने विश्व बैंक के इस मकसद को पूरा करने में पूरा सहयोग इसलिए दिया चूंकि भारतीय पूंजीपति वर्ग वैश्विक पूंजी के नवउदावादी एजेंडे से सहमत था और उसी के जरिए अपने निहित स्वार्थ की पूर्ति भी देखता था।

आज हकीकत यह है कि भारत के पूरे सार्वजनिक शैक्षिक खर्च का केवल 1–1.5 प्रतिशत डालर, पाउंड, येन या यूरो में देकर वैश्विक बाजार की ताकतें न केवल हमारी शिक्षा नीति पर ही हावी हो रही हैं वरन् संविधान में 86वें संशोधन जैसे हस्तक्षेप भी कर रही हैं और संसद में मौलिक अधिकार के नाम पर नवउदारवादी विधेयक पारित करवा रही हैं। इन तथ्यों की राजनीति को समझकर ही हम अपनी लड़ाई आगे बढ़ा सकते हैं।

दूसरा मुद्दा

स्कूली शिक्षा के मानदंडों का शिथिलीकरण यानी सरकारी स्कूल व्यवस्था को ध्वस्त करने की रणनीति

संसद द्वारा पारित राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 (1992 में संशोधित) के ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड के तहत एक कोशिश हुई थी कि स्कूली शिक्षा के न्यूनतम मानदंड स्थापित किए जाएं। वैसे इसके पहले भी मानदंड तय करने का काम चलता था। नवउदारवादी नीतियों के पहले इस प्रक्रिया में थोड़ी–बहुत कोशिश यदा–कदा होती रही है एक कदम आगे बढ़ने की यानी मानदंड बेहतर करने की। लेकिन सन् 1991 में भारत सरकार द्वारा विश्व बैंक का संरचनात्मक समायोजन (स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट) कार्यक्रम स्वीकारने के बाद यह लाज़मी हो गया कि शिक्षा में किए जानेवाला सार्वजनिक खर्च घटाया जाए, खासकर स्कूली शिक्षा में। सवाल यह था कि नब्बे के दशक की 10 लाख सरकारी स्कूलों की व्यवस्था में अचानक खर्च कैसे घटाया जा सकता है? जैसा कि खंड एक में स्पष्ट किया गया है (देखिए 17–18, 41–42), विश्व बैंक के दबाव में इस काम की व्यवस्थित शुरूआत डी.पी.ई.पी. में की गई जहां स्कूली शिक्षा से संबंधित मानदंडों का शिथिलीकरण करने की रणनीति अपनाई गई[7]।

हकीकत क्या है?

सन् 1999 में भारत सरकार द्वारा गठित 'विशेषज्ञ समूह' (जिसे तपस मजूमदार समिति के नाम से जाना जाता है)[8] की विख्यात रपट जारी हुई। इस रपट में यह अनुमान लगाया गया कि 14 साल की उम्र तक के सभी

---

[7]वैसे इस नीति के बीज राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 के तहत शुरू की गई औपचारिकेतर (नॉन–फ़ार्मल) शिक्षा में डाल दिए गए थे जिसमें शिक्षक की जगह अनुदेशक, पूरे केंद्र में केवल एक अनुदेशक और बिना भवन के केंद्र की कल्पना का दुस्साहस किया गया। हालांकि ये मानदंड पूरी स्कूल व्यवस्था पर लागू नहीं किए गए थे, तो भी कहा जा सकता है कि भारत में शिक्षा की नवउदारवादी नीति का सूत्रपात सन् 1986 में हो गया था।

[8]गौरतलब है कि 'विशेषज्ञ समूह' का गठन 83वें संविधान संशोधन विधेयक (जुलाई 1997) के संदर्भ में हुआ था जिसमें मौलिक अधिकार के वित्तीय निहितार्थों का अनुमान लगाने के लिए एक ऐसे समूह का प्रस्ताव आया। यह संदर्भ तपस मजुमदार समिति की ताकत और सीमा दोनों बनी। इस सवाल पर यहां जगह की कमी के कारण और चर्चा संभव नहीं है।

बच्चों को शिक्षा का मौलिक अधिकार देने के लिए भारत सरकार को कितना अतिरिक्त खर्च करना पड़ेगा। 'विशेषज्ञ समूह' यह मानकर चला कि शिक्षा के मौलिक अधिकार के मायने हैं कि सब को समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा का अधिकार देना 'राज्य' की संवैधानिक जवाबदेही है। इस मायने में 'विशेषज्ञ समूह' ने डी.पी.ई.पी. की समानांतर परतों वाली भेदभावपूर्ण शिक्षा नीति को पूरी तरह खारिज कर दिया। इस वित्तीय अनुमान को लगाने के लिए 'विशेषज्ञ समूह' ने कई मानदंड तय किए जिनमें से अधिकांश राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 (1992 में संशोधित) पर आधारित थे – प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों तरह से। 'विशेषज्ञ समूह' के ये मानदंड नीचे तालिका 2 में दिए हुए हैं। उसी तालिका में तुलना बतौर सर्व शिक्षा अभियान (2000) के तहत तय किए गए मानदंड भी दिए हैं। याद रहे कि सर्व शिक्षा अभियान की रूपरेखा विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित डी.पी.ई.पी. के आधार पर बनी थी।

तालिका क्र. 2

स्कूली मानदंडों का शिथिलीकरण – 1990 के दशक में नवउदारवादी रणनीति

क्र.	**मानदंड**	**विशेषज्ञ समूह** (तपस मजुमदार समिति, 1999)	**सर्व शिक्षा अभियान** (2000)
1.	विद्यार्थी : शिक्षक अनुपात	1:30	1:40
2.	शिक्षकों का औसत मासिक वेतन	प्राथमिक – रु. 5,000 उत्तर प्राथमिक – रु. 6,000	रु. 3,000
3.	थ्नजी स्कूलों में नामांकन	कुछ नहीं	15 प्रतिशत
4.	घटिया गुणवत्ता के स्कूलों की समानांतर परतें	कुछ नहीं	वैकल्पिक स्कूलों एवं शिक्षा गारंटी केंद्रों के लिए महती भूमिका
5.	अतिरिक्त कुल शिक्षकों की जरूरत (कुल संख्या)	35.6 लाख (हरेक प्राथमिक स्कूल में न्यूनतम 3 शिक्षक)	11.5 लाख (हरेक प्राथमिक स्कूल में न्यूनतम 2 शिक्षक)
6.	अतिरिक्त कुल कमरों की जरूरत (कुल संख्या)	43 लाख (हरेक प्राथमिक स्कूल में न्यूनतम 3 कमरे)	11 लाख (हरेक प्राथमिक स्कूल में न्यूनतम 2 कमरे)

तालिका क्र. 2 (जारी . . . . .)

क्र.	मानदंड	**विशेषज्ञ समूह** (तपस मजुमदार समिति, 1999)	**सर्व शिक्षा अभियान** (2000)
7.	मुफ़्त स्कूली पोशाक, वजीफ़े एवं जिला प्राथमिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान('डाईट')	प्रावधान किया	कोई प्रावधान नहीं
8.	समेकित शैक्षिक विकास – प्रति विकलांग बच्चा लागत	रु. 3,000	रु. 1,200
9.	क) अनुदान प्रति स्कूल	प्राथमिक – रु. 3,000 उत्तर प्राथमिक – रु. 5,000	रु. 2,000
10.	ख) अनुदान प्रति शिक्षक	प्राथमिक – रु. 500 उत्तर प्राथमिक – रु. 700	रु. 500
11.	क) + ख) : वित्तीय निहितार्थ	रु. 670 करोड़	रु. 395 करोड़
12.	ग) सीखने–सिखाने के उपकरण : वित्तीय निहितार्थ	रु. 1,029 करोड़	रु. 402 करोड़

स्रोत – तिलक, जे.बी.जी. (2003), 'ए स्टडी ऑन फ़ाईनेंसिंग ऑफ़ एज्युकेशन इन इंडिया विद ए फ़ोकस ऑन एलिमेंटरी एज्युकेशन', साउथ एशिया ईएफ़ए फ़ोरम, नीपा, नई दिल्ली, मई 2003, परिशिष्ट ए.1 एवं ए.2.

उपरोक्त तुलना से एकदम स्पष्ट होगा कि सर्व शिक्षा अभियान ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 एवं 'विशेषज्ञ समूह' द्वारा स्कूली शिक्षा के लिए निर्धारित मानदंडों को विधिवत शिथिल करने का काम किया है। गौरतलब है कि इस शिथिलीकरण को नब्बे के दशक में डी.पी.ई.पी. ने नीति का रूप दे दिया था। सर्व शिक्षा अभियान ने उसी तर्ज पर शिथिलीकरण के वित्तीय निहितार्थों का भी अनुमान लगाया ताकि इसको दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002–07) में शामिल किया जा सके। विश्व बैंक की संरचनात्मक समायोजन (स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट) की शर्तों के मद्देनज़र शिक्षा पर खर्च घटाना ज़रूरी था और इसके लिए मानदंडों का शिथिलीकरण सरकार के हाथ में एक चतुर और कारगर रणनीति बनी। जिस रणनीति का पूर्वाभ्यास डी.पी.ई.पी. में हुआ वह सर्व शिक्षा अभियान के जरिए दसवीं योजना और उसके बाद भारत की स्कूली शिक्षा नीति का मार्गदर्शक सिद्धांत बन गया।

इस संदर्भ में एक बात साफ करना जरूरी है। बेशक, 'विशेषज्ञ समूह' (तपस मजुमदार समिति) की रपट के मानदंड डी.पी.ई.पी. और सर्व शिक्षा अभियान दोनों की तुलना में कहीं ज्यादा प्रगतिशील थे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि शिक्षा के मौलिक अधिकार और पड़ोसी स्कूल पर आधारित समान स्कूल प्रणाली के खाके में ये मानदंड खरे उतरेंगे। उदाहरणतः, 'विशेषज्ञ समूह' के नज़रिए में तीन खामियों का जिक्र करना उपयोगी होगा। पहला, इसमें छह साल से कम आयु के बच्चों के लिए 'शिशु देखभाल एवं पूर्व–प्राथमिक शिक्षा' को शामिल नहीं किया गया। दूसरा, इसमें मुफ़्त शिक्षा की पूरी अवधारणा नहीं है। 'विशेषज्ञ समूह' ने कई ज़रूरी सुविधाओं की लागत का वित्तीय अनुमान नहीं लगाया जैसे विकलांग बच्चों को नियमित कक्षाओं में शामिल करने के लिए अतिरिक्त सुविधाएं, संगीत, कला व खेलकूद की शिक्षा, कंप्यूटर शिक्षा, बाल मजदूर बच्चों को स्कूल लाने के लिए उनके परिवारों को 'ऑपरच्युनिटी कॉस्ट' की भरपाई आदि। तीसरा, यह परोक्ष रूप से माना गया है कि आम सरकारी स्कूलों के मानदंड केंद्रीय–नवोदय विद्यालयों की तुलना में निम्नतर होंगे अन्यथा मानदंड और बेहतर स्तर के होते, शायद इन सरकारी अभिजात् स्कूलों से भी बेहतर। समान स्कूल प्रणाली में इस अंतर और भेदभाव की कोई गुंजाईश नहीं होगी। इसके अलावा 'विशेषज्ञ समूह' ने 14–18 आयु समूह यानी 12वीं कक्षा तक मुफ़्त शिक्षा के मौलिक अधिकार के लिए ज़रूरी मानदंडों का भी जिक्र नहीं किया है हालांकि इसका प्रत्यक्ष कारण 83वें संविधान संशोधन विधेयक में 6–14 आयु समूह की सीमा लागू होना माना जा सकता है। इन सब कारणों को ध्यान में रखते हुए हमें 'विशेषज्ञ समूह' से यथोचित सबक लेते हुए उससे आगे बढ़ना होगा।

आगे के लिए सवाल

स्कूली शिक्षा के मानदंडों के शिथिलीकरण को शासक वर्ग में एक ज़रूरी नीति के रूप में इतनी व्यापक मान्यता क्यों मिली? यहां दो तथ्यों पर गौर कीजिए। पहला, इस संविधान–विरोधी और जन–विरोधी नीति पर संसद या राज्यों के विधान मंडलों में कभी गंभीर बहस नहीं हुई, कभी बहिर्गमन नहीं हुआ – सभी राज्य सरकारों ने (वाम दलों की सरकारों ने भी) इस नीति को बगैर कोई सवाल उठाए लागू किया है। दूसरा, 86वें संविधान संशोधन (दिसंबर 2002) के अनुच्छेद 21(क) के तहत भाजपा–नीत राजग सरकार

और कांग्रेस–नीत संप्रग सरकार के कार्यकालों में शिक्षा अधिकार विधेयक के क्रमशः तीन और छह प्रारूप तैयार हुए हैं – इन सभी में मानदंडों के शिथिलीकरण को आधार बनाया गया है। इस तरह राज्यसभा में 15 दिसंबर 2008 को पेश किया गया विधेयक भी संरचनात्मक समायोजन (स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट) की शर्त पूर्ति के लिए किए गए मानदंडों के उक्त शिथिलीकरण का वैधानीकरण करने जा रहा है।

इस सवाल पर शासक वर्ग में इतने व्यापक फलक पर बनी सहमति का आधार क्या है?

इसका जवाब खंड एक में दिया जा चुका है (देखिए दूसरे संस्करण की प्रस्तावना भी, पृष्ठ 6–8)। मानदंडों का शिथिलीकरण तीन तरह से नवउदारवादी एजेंडे की पूर्ति करता है। एक, यह शिथिलीकरण सरकारी स्कूल व्यवस्था की गुणवत्ता में गिरावट लाने और इस व्यवस्था पर से जनता की आस्था तोड़ने की पूर्व शर्त है – तभी तो यह व्यवस्था ध्वस्त की जा सकेगी।[9] दो, जब सरकारी स्कूल व्यवस्था पर से जनता की आस्था टूट जाएगी, तब स्कूली शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण का रास्ता पूरी तरह खुल जाएगा – यहां हम सन् 1991 में नवउदारवाद की औपचारिक शुरूआत के महज 18 सालों के अंदर लगभग पहुंच चुके हैं। तीन, सरकारी स्कूल व्यवस्था को ध्वस्त करने की नीति के अपवाद का जिक्र उदाहरणों सहित नीचे पादटीप 9 में किया है। यह अपवाद इसलिए है चूंकि भारतीय शिक्षा नीति का 11वीं योजना में स्वीकृत मकसद वैश्विक बाजार के लिए सक्षम कामगारों की फौज तैयार करना है – एक ऐसी फौज जिसमें भवन–सड़क–पुल निर्माण और बिजली–नल की मरम्मत करने वाले निपुण लेकिन निम्न–स्तरीय कामगारों से लेकर उच्च–स्तरीय नाभकीय इंजीनियर, ऊर्जा विशेषज्ञ, बायोटेक्नॉलॉजिस्ट, सूचना प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ, धर्मशास्त्री, अर्थशास्त्री, नारीवादी कार्यकर्ता आदि सभी प्रकार के कामगार होंगे। इन सब की वैश्विक पूंजी को दुनिया भर के संसाधनों के दोहन और इंसान का शोषण करने के लिए सख्त ज़रूरत है। एक और बात। गरीब तबके और पिछड़ी जातियों के वे बच्चे जो सारी बदहाली के बावजूद बाजार के मापदंडों

[9]एक विशिष्ट श्रेणी के सरकारी स्कूल इस नीति के अपवाद रहेंगे। इस श्रेणी में केंद्रीय सरकार के केंद्रीय–नवोदय विद्यालय, सैनिक स्कूल और 11वीं योजना में खुल रहे 6,000 मॉडल स्कूल और राज्य सरकारों के अभिजात् स्कूल (जैसे आंध्र प्रदेश के आवासीय स्कूल) आते हैं। इस अपवाद के पीछे भी नवउदारवाद का तर्क है जिसका जिक्र आगे होगा।

पर खरे उतर जाते हैं वे तो विलक्षण प्रतिभा के कामगार होंगे और इनको पहचानकर उम्दा शिक्षा देकर बाजार के लिए तैयार किया जाएगा। इसीलिए विशिष्ट श्रेणी के सरकारी अभिजात् स्कूलों को न केवल मानदंडों के शिथिलीकरण की नीति से मुक्त रखा जाएगा वरन् उनकी संख्या में बढ़ोत्तरी भी की जाएगी, इनके लिए धन की कमी का बहाना भी नहीं लगाया जाएगा – लेकिन बढ़ोत्तरी भी उतनी ही की जाएगी जितनी ज़रूरत बाजार को है। नवउदारवादी खाके में इसी को 'समावेश' करना कहते हैं। यह स्पष्ट होना चाहिए कि **'समावेशी नीति' की बात तभी की जाती है जब संविधान के समानता के सिद्धांत को नकार दिया जाता है। जिस समाज की पुनर्रचना समानता के सिद्धांत पर की जा रही हो वहां 'समावेश' का सवाल गौण हो जाता है। 11वीं योजना की 'समावेशी वृद्धि' का लब्बोलुआब यही है कि 'समावेश' किसका करना है और किसका नहीं, किन मापदंडों पर करना है और किसके फायदे के लिए करना है, यह सब वैश्विक बाजार के हित को देखकर भारत का शासक वर्ग तय करेगा।**

<u>तीसरा मुद्दा</u>

शिक्षा में सार्वजनिक खर्च की कटौती यानी 'राज्य' द्वारा अपनी संवैधानिक जवाबदेही से बरी होने की नीति

उपरोक्त दोनों मुद्दों से संबंधित आंकड़ों के विश्लेषण और व्याख्या के बाद तीसरे मुद्दे को समझना एकदम सहज हो गया है। **'राज्य' द्वारा अपनी संवैधानिक जवाबदेही से बरी होने की नीति** अनिवार्य परिणति है संरचनात्मक समायोजन (स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट) नामक शर्त की जो नवउदारवादी एजेंडे के हिस्से के रूप में सन् 1991 में भारत सरकार ने स्वीकारी। तब से लेकर आज तक शिक्षा, स्वास्थ्य और जन कल्याण जैसे सामाजिक क्षेत्रों की संवैधानिक जवाबदेही से 'राज्य' व्यवस्थित रूप से पीछे हट रहा है और खाली होते दायरों को निजी पूंजी हथिया रही है। **'समावेशी आर्थिक और सामाजिक नीति' एक ऐसा नकाब है जिसके पीछे 'राज्य' वैश्विक बाजार के हितों की पूर्ति के लिए काम करता है,** जैसा कि ऊपर दूसरे मुद्दे की व्याख्या के अंतिम हिस्से में स्पष्ट किया है।

हकीकत क्या है?

नीचे चित्र–1 में दिए ग्राफ़ के निम्नांकित पक्षों पर ध्यान देने की ज़रूरत है–

1. राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 के संसद में पारित होने के तुरंत बाद शिक्षक और विद्यार्थी संगठनों ने सरकार पर दो तरफ़ा दबाव बनाया था। एक, इस नीति में निहित भेदभाव बढ़ाने एवं निजीकरण को समर्थन देने के प्रावधानों की सार्वजनिक आलोचना की। दूसरा, कोठारी आयोग (1964–66) की सिफारिश के अनुसार शिक्षा पर सार्वजनिक खर्च राष्ट्रीय सकल घरेलू उत्पाद के 6 फीसदी तक बढ़ाने के लिए आवाज़ उठाई। इसका प्रतिफल यह हुआ कि अगले तीन सालों में सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में शिक्षा पर खर्च 3.5 फीसदी से बढ़ते हुए सन् 1989–90 तक 4 फीसदी हो गया।
2. लेकिन उसके बाद सन् 1991 से संरचनात्मक समायोजन की शर्त लागू हो गई जिसके कारण तब से लेकर सन् 2005–06 तक सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात के रूप में शिक्षा पर खर्च घटता गया और उस स्तर तक आ गया जहां सन् 1986 की नीति के समय था।
3. इसके अपवाद स्वरूप दो साल – सन् 1999–2000 और 2000–01 – दिखते हैं जब सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में शिक्षा पर खर्च 4 फीसदी के ऊपर चला गया। इस अपवाद का कारण स्पष्ट नहीं है।
4. उसके बाद से फिर खर्च घटता गया है और यह प्रवृत्ति भाजपा–नीत राजग एवं कांग्रेस–नीत संप्रग सरकारों के कार्यकालों में देखी जा सकती है। निःसंदेह, 'राज्य' द्वारा अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पल्ला झाड़ने की प्रवृत्ति कांग्रेस–नीत संप्रग के कार्यकाल में और अधिक तेज हुई है। ऐसा कहने का कारण है कि संप्रग सरकार ने सन् 2004–05 से केंद्रीय करों पर प्रारंभिक शिक्षा के नाम पर 2 फीसदी उपकर लगाया है – बाद में इसके अतिरिक्त माध्यमिक व उच्च शिक्षा के लिए भी 1 फीसदी उपकर लगा। इसके बावजूद सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात के रूप में शिक्षा पर खर्च घटता गया, जबकि शिक्षा उपकर के जरिए जनता से बटोरा गया धन साल–दर–साल बढ़ता गया। स्पष्ट है कि **'राज्य' की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की प्राथमिकताएं बदलकर शिक्षा के लिए संसाधन जुटाने की राजनीतिक इच्छाशक्ति लगातार घटती गई है।**

5. सन् 2006–07 और सन् 2007–08 में खर्च बढ़ने के जो संकेत दिख रहे हैं, इनको समझना दिलचस्प होगा। यह बढ़ोत्तरी इसलिए नहीं हुई कि प्रारंभिक शिक्षा पर खर्च बढ़ा है वरन् इस क्षेत्र में सर्व शिक्षा अभियान के सारे दावों के बावजूद सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात के रूप में खर्च घटा है। तो फिर बढ़ोत्तरी कहां हुई है? पिछले दो सालों में बढ़ोत्तरी के तीन कारण पहचाने जा सकते हैं –

- पिछड़ी जातियों को उच्च शिक्षा के संस्थानों में दिए गए आरक्षण की भरपाई के रूप में उच्च जातियों के लिए सीटें बढ़ाना जिसके चलते सभी प्रकार की सुविधाएं बढ़ाई जा रही हैं,
- उच्च शिक्षा के क्षेत्र में मुट्ठी भर युवाओं के लिए आई.आई.टी, आई.आई.एम., आई.आई.आई.टी. एवं केंद्रीय विश्वविद्यालय जैसे अभिजात् संस्थान खोलना जबकि अधिकांश उच्च शिक्षा संस्थानों की बदहाली बरकरार रहेगी जिसके चलते उच्च शिक्षा की बुनियाद कमजोर रहेगी, तथा
- माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में 6,000 मॉडल स्कूल खोलना (इनमें 2,500 पी.पी.पी. के दायरे में होंगे) जहां मुट्ठी भर चयनित किशोरों को मौका मिलेगा जबकि अधिकांश गुणवत्तापूर्ण माध्यमिक शिक्षा से वंचित रहेंगे।

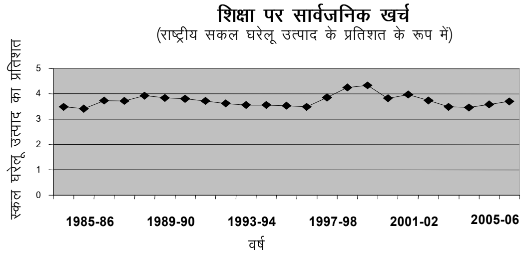

चित्र–1

(स्रोत – विभिन्न वर्षों का 'एनालिसिस ऑफ़ बजटेड एक्सपेंडीचर ऑन एज्युकेशन', मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार)

सबको खटकनेवाला सवाल

क्या भारत के पास स्कूली शिक्षा के लिए वास्तव में धन की कमी है? क्या आप जानते है कि इस वर्ष भारत का सालाना सकल घरेलू उत्पाद कितना होने वाला है? जुलाई 2009 के पहले हफ़्ते में नया आर्थिक सर्वेक्षण आ जाएगा जिसमें इस सवाल का आंकड़ों पर आधारित जवाब होगा। लेकिन आर्थिक मंदी के बावजूद सन् 2009–10 में भारत की अनुमानित आय 50 लाख करोड़ का आंकड़ा छू सकती है। केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की कपिल सिब्बल समिति (2005) की रिपोर्ट के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा 1–8) का मौलिक अधिकार देने के लिए सन् 2006–07 से सन् 2011–12 तक औसतन रु. 72,743 करोड़ प्रति वर्ष खर्च करने पड़ते जो उक्त सालाना सकल घरेलू उत्पाद का 1.45 फीसदी होगा। सन् 2007–08 में शिक्षा पर खर्च के स्तर (3.7 फीसदी) में जोड़ने पर यह सकल घरेलू उत्पाद का बमुश्किल 5.2 फीसदी हो जाएगा। कोठारी आयोग ने सिफारिश की थी कि सन् 1986 के बाद से सकल घरेलू उत्पाद का **कम–से–कम** 6 फीसदी खर्च करना ज़रूरी है। इसके मायने हैं कि मौलिक अधिकार की ज़रूरतों को पूरा करने के बाद भी सकल घरेलू उत्पाद में 0.8 फीसदी और खर्च करने की गुंजाईश बच जाएगी जिसे माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के विस्तार और उसकी गुणवत्ता सुनिश्चत करने के लिए लगाना चाहिए। तो फिर दिक्कत क्या है?

खंड तीन में आप देखेंगे कि केंद्रीय सरकार के केबिनेट स्तर के मंत्री और योजना आयोग के उपाध्यक्ष विगत तीन साल से कह रहे हैं कि सरकार के पास इतना पैसा नहीं है। क्या मायने हैं उनकी इस बात के? सन् 2010 में दस दिन के लिए दिल्ली में कॉमनवेल्थ गेम्स होने जा रहे हैं। एक पुराने अनुमान के अनुसार इसके लिए सरकार कम–से–कम एक लाख करोड़ रुपए अतिरिक्त खर्च करेगी। यह पैसा कहां से आएगा? रिज़र्व बैंक की तीन साल पुरानी नॉन परफ़ॉर्मिंग एसेट्स रिपोर्ट के अनुसार सरकार ने उद्योगपतियों द्वारा लिए गए ऋण बट्टेखाते में जाने पर कर्ज माफ़ी के नाम पर 60,000 करोड़ रुपए दिए। यह पैसा कहां से आया? अब तक स्वीकृत सेज़ के लिए दी जानेवाली कर की छूट के कारण सरकार को दो लाख करोड़ रुपए तक राजस्व का नुकसान हो सकता है। इस नुकसान की भरपाई कैसे होगी? मंत्रालय की सन् 2004–05 में जारी की गई एक गोपनीय रिपोर्ट के अनुसार निजी स्कूलों को दी गई रियायतों एवं कर की छूट के कारण सरकार को

सालाना 4,000 करोड़ रुपए के राजस्व की हानि होती है। पिछले 4 सालों में निजी स्कूलों की संख्या में तेजी से बढ़ोतरी होने के कारण राजस्व की इस हानि में उल्लेखनीय वृद्धि हो चुकी होगी। सुविधाभोगी वर्गों को अभिजात् महंगी शिक्षा देने के लिए सरकार यह नुकसान कैसे उठा लेती है? तो फिर क्या वास्तव में देश में धन की कमी है? या फिर असली **सवाल सरकार की आर्थिक प्राथमिकताओं का है, न कि धन की कमी का।** शिक्षा के मौलिक अधिकार की लड़ाई को आगे बढ़ाने के लिए देश भर में इस मुद्दे पर जनपक्षी राय बनाना निहायत ज़रूरी है।■

———————

खंड - तीन

शिक्षा के मौलिक अधिकार की लड़ाई
खतरे, सीमाएं और संभावनाएं

केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड में शिक्षा अधिकार विधेयक लोकतांत्रिक सलाह-मशविरे का ढोंग

शिक्षा के मौलिक अधिकार की लड़ाई सरकारी मंचों, समितियों एवं आयोगों के अंदर और बाहर दोनों दायरों में लड़ी गई हैं। इस आलेख में एक उच्च-स्तरीय सरकारी समिति के अंदर मेरे द्वारा लड़ी गई लड़ाई के अनुभव की कहानी दर्ज की गई है। इस बाबत दो बातें शुरूआती तौरपर कहनी हैं। पहली, जाहिर है कि यह कहानी मेरे नज़रिए से कही गई है। इसलिए इसमें मेरे पूर्वाग्रहों व आग्रहों का झलकना स्वाभाविक है। मैंने हरेक अनुभव की व्याख्या मेरे विचारधारात्मक खाके में ही की है (जिसका स्पष्ट विवरण खंड एक और दो में दिया है)। इसके बावजूद मेरी पूरी कोशिश रही है कि इस कहानी को ठीक वैसे ही सुनाऊं जैसे यह घटी है। इसीलिए इसे लिखते समय मैंने लगातार उक्त समिति के प्रतिवेदनों और अन्य औपचारिक रिकार्ड एवं विभिन्न बैठकों में मेरे खुद के लिखे गये नोट्स का संदर्भ लिया है। तब भी भूल होने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता।

दूसरी बात। इस कहानी में मैंने जहां एकदम ज़रूरी समझा वहां चंदेक प्रमुख लोगों के नामों का जिक्र किया है या फिर बिना नाम लिए उनकी ओर संकेत किया है। ***ऐसा करने में मेरा मकसद किसी व्यक्ति विशेष पर किसी भी प्रकार का आक्षेप करना नहीं था।*** *मेरा मानना है कि इस समिति में जो कुछ भी मेरा अनुभव हुआ वह पूंजीवाद के नवउदारवादी चरण के ऐतिहासिक दौर का अपरिहार्य हिस्सा है। किसी व्यक्ति विशेष या नाम से कोई फर्क नहीं पड़ता चूंकि हरेक व्यक्ति अपनी सामाजिक-आर्थिक वर्ग पृष्ठभूमि और शासक वर्ग व बाजार के साथ रिश्ते के कारण एक खास तरह की तयशुदा भूमिका निभाता है। कुछ लोग ऐसे ज़रूर होते हैं जो खास हालात के कारण अपनी वर्ग पृष्ठभूमि के बावजूद अलग हटकर प्रगतिशील और जनपक्षी भूमिका अदा कर पाते हैं या उसकी कोशिश करते हैं लेकिन अधिकांश लोग अपने तयशुदा दायरे को तोड़ नहीं*

पाते। इस समझ के साथ मेरी दिलचस्पी किसी व्यक्ति विशेष को नकारात्मक छवि में ढालने में कतई नहीं है वरन् केवल तथ्यों का ब्यौरा देने में है ***ताकि सरकारी समितियों–आयोगों के बारे में हम कोई भ्रम न पालें और शैक्षिक परिवर्तन के नए रास्ते तलाशें।*** *हम सभी अपनी–अपनी वर्ग पृष्ठभूमि व समझ के हिसाब से कर्म करते हैं लेकिन किसी अन्य ऐतिहासिक दौर में हममें से हरेक में छिपी संभावनाएं उजागर होकर सकारात्मक रूप से हमारी भूमिका बदल सकती हैं।* ***अतः व्यक्तियों या नामों को हम नवउदारवादी दौर का निमित्त मात्र मानें तो बेहतर होगा।*** *बस, आप इसी ऐतिहासिक नज़रिए से मेरे अनुभव का आकलन करें तो इस कहानी को दर्ज करने का मेरा मकसद पूरा हो जाएगा।*

पिछले आम चुनावों के बाद मई 2004 में कांग्रेस–नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग या यू.पी.ए.) की केंद्रीय सरकार बनी। श्री अर्जुन सिंह दोबारा मानव संसाधन विकास मंत्री बने। इसके पहले वे नरसिम्हा राव सरकार में 1991–96 के दौरान मानव संसाधन विकास मंत्री रह चुके थे। लगभग 10 साल के अंतराल के बाद जुलाई 2004 में **केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एज्युकेशन या 'केब')** का गठन हुआ। शिक्षा नीति व शैक्षिक कार्यक्रमों पर केंद्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों को सलाह देने के मामले में इस निकाय को आज़ादी के पहले से ही सर्वोच्च दर्जा मिला हुआ है। नवगठित 'केब' की अगस्त 2004 में आयोजित पहली बैठक (क्रम में 51वीं बैठक) में सात समितियों का गठन हुआ – पांच स्कूली शिक्षा पर और दो उच्च शिक्षा पर। इनमें से एक समिति को 86वें संविधान संशोधन के अनुच्छेद 21(क) के तहत 'मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा' देनेवाले विधेयक का प्रारूप तैयार करने का काम दिया गया। इसकी अध्यक्षता करने की जिम्मेदारी तत्कालीन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी केंद्रीय राज्य मंत्री श्री कपिल सिब्बल (वर्तमान संप्रग सरकार में मानव संसाधन विकास मंत्री) को सौंपी गई। पांच राज्यों के शिक्षा मंत्रियों के अलावा समिति में शिक्षा अधिकार के मुद्दे पर सक्रिय या अकादमिक पृष्ठभूमि के 8 लोग रखे गए। इस श्रेणी में मुझे भी समिति का सदस्य बनाया गया। शेष 7 सदस्य विभिन्न मंत्रालयों व योजना आयोग के सचिव या प्रतिनिधि थे।

निजी स्कूल लॉबी और शासक वर्ग का गठबंधन

इस समिति में मुझे जिन वैचारिक और राजनीतिक अवरोधों से जूझना पड़ेगा, इसका अंदाज़ दूसरी बैठक (24 दिसंबर 2004) के अंतिम काल में हो गया था। बगैर किसी संदर्भ के उस बैठक की अपनी समापन टिप्पणी में अध्यक्ष श्री सिब्बल ने कहा कि बेहतर होगा कि आप विधेयक तैयार करते हुए निजी सहायता–विहीन स्कूलों के बारे में कोई कानूनी प्रावधान न रखें। उन्होंने अपनी बात पूरी करते हुए कहा कि इस श्रेणी के स्कूलों के लिए कोई कानून बनाना न तो मुमकिन है और ना ही वांछनीय चूंकि वे सरकार से कोई वित्तीय सहायता नहीं लेते। साफ़ है कि श्री सिब्बल चिंतित थे कि कहीं विधेयक में निजी सहायता–विहीन स्कूलों के नियमन एवं नियंत्रण (फीस तय करने, मुनाफ़ा कमाने और विद्यार्थियों को भर्ती करने में मनमानी बरतने के मुद्दे समेत) के मामले में 'राज्य'[10] की भूमिका तय करनेवाले प्रावधान न आ जाएं। मैंने तुरंत अध्यक्ष से मतभेद जाहिर करते हुए याद दिलाया कि निजी स्कूलों को परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप से कितनी रियायतें, कर माफ़ी और अन्य प्रकार की सहायता मिलती हैं जिसके चलते यह कहना गलत होगा कि ये स्कूल सरकार से कोई वित्तीय सहायता नहीं लेते।

बैठक के बाद मैंने अध्यक्ष को एक पत्र लिख कर अपनी बात के पक्ष में दर्ज किया कि सरकार नाना प्रकार के छोटे–बड़े निजी व्यापारिक संस्थानों व उनकी गतिविधियों के नियमन एवं नियंत्रण लिए कानून बनाती है, जैसे शेयर बाजार, लॉटरी, संपत्ति, विदेशी पूंजी का प्रवाह, बैंक, बीमा, सूचना प्रौद्योगिकी का धंधा और यहां तक कि ढाबों, पान की दुकानों व सायकिल रिक्शा के लिए भी। मेरा सवाल था कि तो फिर "देश के सबसे तेजी से बढ़ते हुए धंधों में से एक धंधे यानी निजी स्कूलों को इस नियम का अपवाद क्यों माना जा रहा।" आगे मेरा तर्क था कि "ऐसे स्कूलों के लिए कानून बनाने के काम को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए चूंकि वे सुविधाभोगी वर्गों की अगली

---

[10]यहां 'राज्य' के मायने दो तरह से समझे जा सकते हैं। एक, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 12 के अनुसार जहां 'राज्य' से आशय केंद्रीय सरकार व संसद, राज्य/प्रांतीय सरकार व विधान मंडल और स्थानीय निकाय में से कोई एक या तीनों से है। दूसरा, राजनीति विज्ञान के अनुसार 'राज्य' उन आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक ताकतों का प्रतिनिधित्व करता है जो किसी राष्ट्र के आर्थिक–सामाजिक ढांचे पर हावी होती हैं यानी 'राज्य' बुनियादी तौरपर इन ताकतों के निहित स्वार्थो को संरक्षण देने और आगे बढ़ाने के लिए काम करता है। यहां हम 'राज्य' शब्द का उपयोग प्रमुखतः दूसरे यानी राजनीति विज्ञान के अर्थों में कर रहे हैं।

पीढ़ी के सोच को ढालते हैं और इस तरह आगे चलकर ये स्कूल पाठ्यचर्या एवं शिक्षण पद्धति से जुड़ी हुई निर्णय प्रक्रिया पर हावी रहते हैं जिसके चलते अधिकांश लोगों की शिक्षा पर नकारात्मक असर पड़ता है।" उसी पत्र में यह भी याद दिलाया कि पूर्व राजग सरकार ने विधेयक का जो प्रारूप तैयार किया था "उसमें ऐसे निजी स्कूलों को संविधान में दिए गए आदर्शों, मूल्यों व सिद्धांतों से बरी कर देने का भी प्रावधान था।" अंत में मैंने अध्यक्ष से निवेदन किया कि मेरे द्वारा उठाए गए सवालों पर वे समिति के सामने अपने विचार रखें और नए कानून बनाने को दिशा भी दें। लेकिन उन्होंने न तो मेरे पत्र का जवाब दिया और न ही समिति की किसी बैठक में विचार होने दिया। इससे भी ज्यादा उल्लेखनीय तथ्य है कि उस समिति में मौजूद बुद्धिजीवी व समाजकर्मी सदस्यों ने भी इस पत्र में उठाए गए मुद्दे को तवज्ज़ो नहीं दी हालांकि पत्र की प्रतियां समिति के सभी सदस्यों को उपलब्ध करा दी गई थीं। मेरा पत्र समिति के प्रकाशित रिकार्ड में मौजूद है और राजनीति, नेतागण एवं निजी स्कूल लॉबी के गठबंधन एवं उसको मिल रहे बुद्धिजीवियों के मौन (या मुखर!) समर्थन का साक्षी है।

समिति में हाशिए पर

समिति की बैठकों में बहुत जल्द ही मैं अलग–थलग पड़ने लगा था। यहां तक कि समिति के बुद्धिजीवी व समाजकर्मी सदस्यों ने भी मेरा साथ नहीं दिया। जिन मुद्दों पर मैं अलग–थलग पड़ा, उनका संक्षिप्त ब्यौरा पेश है –

- सभी बच्चों को भेदभावरहित और समतामूलक मानदंडों पर टिकी हुई शिक्षा देना।
- पड़ोसी स्कूल पर आधारित समान स्कूल प्रणाली खड़ी करना जहां नर्सरी–किंडरगार्टन से लेकर 12वीं कक्षा तक समतामूलक गुणवत्ता की पूरी तौरपर मुफ़्त शिक्षा की गारंटी हो।
- सभी श्रेणियों के स्कूल (निजी स्कूल एवं केंद्रीय–नवोदय विद्यालय जैसे सरकारी अभिजात् स्कूल समेत) इस समान स्कूल प्रणाली का हिस्सा हों। इस प्रणाली के तहत ही पाठ्यचर्या की राष्ट्रीय रूपरेखा के खाके में पाठ्यचर्या, शिक्षण पद्धति, पाठ्य सामग्री और मूल्यांकन के मसलों में विविधता, लोच और नवसृजन की पूरी छूट हो।
- निजी स्कूलों की वही संवैधानिक जवाबदेही हो जो सरकारी स्कूलों की होती है। दोनों प्रकार के स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चों और शिक्षकों के

बीच किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो (उदाहरणतः, सरकारी शिक्षकों से गैर–शैक्षणिक काम करवाना)।

- निजी स्कूलों के नियमन, निगरानी और (ज़रूरत पड़ने पर) नियंत्रण के लिए इसी विधेयक में साफ–सुथरे कानूनी प्रावधान हों।
- स्कूली शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण को बढ़ावा देने वाली सभी नीतियों (जैसे, सार्वजनिक–निजी साझेदारी, वाउचर प्रणाली और करों में रियायतें और छूट) पर इसी विधेयक में पूरा प्रतिबंध लगे ताकि भेदभावरहित और समतामूलक शिक्षा व्यवस्था स्थापित करना संभव हो जाए।

उक्त कसौटियों में से एक पर भी समिति द्वारा स्वीकृत प्रारूप खरा नहीं उतर रहा था। पांचवीं और आखिरी बैठक (5 जून 2005) में इस प्रारूप पर जब अन्य सभी सदस्यों की सहमति व्यक्त हो चुकी थी तब मैंने अध्यक्ष श्री सिब्बल से कहा कि इस प्रारूप से मेरी सहमति तो होने का सवाल ही नहीं उठता चूंकि इसमें मेरे द्वारा प्रस्तावित एक भी प्रावधान को शामिल नहीं किया गया है।[11] यहां तक कि मेरा बार–बार किया गया अनुरोध (लिखित और

[11]इसके एक अपवाद का जिक्र करना दिलचस्प होगा। तीसरी बैठक तक समिति में मुझे छोड़कर अन्य सभी सदस्यों की सहमति बन चुकी थी कि निजी और केंद्रीय–नवोदय विद्यालय जैसे विशिष्ट श्रेणी के सरकारी स्कूलों में कुल सीटों में से 25 फ़ीसदी पर पड़ोस के कमजोर वर्ग के बच्चों को कक्षा 8 तक मुफ़्त शिक्षा दी जाएगी। इस प्रकार भरती किए गए बच्चों को मुफ़्त शिक्षा देने की एवज में सरकार द्वारा निजी स्कूल की उस दर से भरपाई की जाएगी जितना राज्य सरकार अपने स्कूलों में प्रति विद्यार्थी सालाना खर्च करती है या जितनी उस स्कूल की फ़ीस है या उन दोनों में से जो कम हो। स्पष्ट है कि यह प्रावधान समान स्कूल प्रणाली को नकारने, गरीब तबके को लालीपॉप देकर भटकाने और निजी पूंजी को सरकारी संसाधन मुहैय्या कराने की सार्वजनिक–निजी साझेदारी की नीति को आगे बढ़ाने के मकसद से बनाया गया था (पूरे विश्लेषण के लिए देखिए पृष्ठ 23, 47–48)। हालांकि मैं इस प्रावधान से पूरी तरह असहमत था लेकिन मैंने सार्वजनिक–निजी साझेदारी पर सीमा लगाने के इरादे से प्रस्तावित किया कि यह सरकारी भरपाई उन निजी स्कूलों को नहीं की जाएगी जिन्होंने सरकार से जमीन जैसी रियायतें लेते वक्त कानूनी तौरपर स्वीकारा था कि वे 25 फ़ीसदी बच्चों को मुफ़्त शिक्षा देंगे। मेरे द्वारा प्रस्तावित प्रावधान को तुरंत स्वीकार लिया गया और यह राज्य सभा में पेश विधेयक में भी शामिल है। इस अपवाद का कारण है कि यदि मेरा प्रस्ताव स्वीकारा नहीं जाता तो आगे चलकर अदालत में 25 फ़ीसदी के पूरे प्रावधान को चुनौती दी जा सकती थी चूंकि यह दिल्ली हाई कोर्ट के फैसले के खिलाफ़ जाता कि मुफ़्त या रियायती दरों पर जमीन पाने वाले निजी स्कूलों को अपने वायदों को पूरा करना लाज़मी है। अंततः कानूनी दबाव में **श्री कपिल सिब्बल को समिति में अपने सबसे कड़क आलोचक का भी सुझाव मानने के लिए मजबूर होना पड़ा।**

मौखिक दोनों) कि समिति को देश के अलग–अलग अंचलों में सार्वजनिक सलाह–मशविरा करना चाहिए, समय की कमी का बहाना करके खारिज कर दिया गया।[12] इस हालात के मद्देनज़र मैंने अपील की कि मेरे द्वारा समिति को भेजे गए सभी पत्रों, सुझावों, टिप्पणियों और अन्य दस्तावेजों को समिति के सार्वजनिक रिकार्ड में दर्ज कर लिया जाए ताकि बाहर की दुनिया को मालूम तो रहे कि मेरा नज़रिया क्या था। मेरी अपील मान ली गई और सभी सदस्यों के लिए भी यह व्यवस्था लागू कर दी गई। समिति के सार्वजनिक रिकार्ड में मेरे द्वारा समिति को भेजे गए लगभग 90 पृष्ठों की सामग्री साक्षी है कि किस बारीकी से शिक्षा के मौलिक अधिकार के हरेक महत्वपूर्ण पहलू पर मैंने तर्कों और तथ्यों के साथ सुझाव दिए और समिति ने वे सभी सुझाव सिरे से खारिज कर दिए। इस प्रक्रिया में अध्यक्ष को समिति के बुद्धिजीवी और समाजकर्मी सदस्यों का रणनीतिक मौन या मुखर समर्थन मिला। **इस अनुभव को वे सभी लोग याद रखें जो मासूमियत के साथ अक्सर यह कहते नहीं अघाते कि आप लोग तर्कों और तथ्यों के साथ अपने सुझावों को प्रधानमंत्री के सामने क्यों नहीं रखते।**

'केब' में घपला और तार्किक विश्लेषण का हश्र

'केब' की सात समितियों की रपटें 14 जुलाई 2005 को नई दिल्ली के विज्ञान भवन में आयोजित 53वीं बैठक में पेश हुईं। 'केब' में लगभग 105 सदस्य होते हैं जिनमें हरेक राज्य व केंद्र–शासित प्रदेश के शिक्षा मंत्रियों के अलावा केंद्रीय संस्थानों (यू.जी.सी., ए.आई.सी.टी.ई., एन.सी.ई.आर.टी., एन.सी.टी.ई., सी.बी.एस.ई. आदि 15 संस्थान) के प्रमुख और शिक्षा से संबंधित दस मंत्रालयों के सचिव भी पदेन शामिल हैं। संसद के छह सदस्य भी रहते हैं – चार लोकसभा से और दो राज्यसभा से। 'केब' के सदस्यों की एक और महत्वपूर्ण श्रेणी बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, समाजकर्मियों और कला, संगीत व

[12]विडंबना यह है कि समय की कमी का बहाना करने वालों ने 'केब' में विधेयक का प्रारूप पेश होने के बाद संसद में विधेयक रखने में साढ़े तीन साल लगा दिए और तब भी उन्हें सार्वजनिक सलाह–मशविरे के लिए समय नहीं मिला! यहां तक कि संसदीय स्थाई समिति ने भी बिना किसी जन सुनवाई के इस विधेयक को संसद के दोनों सदनों को लौटा दिया!! यानी जून 2009 तक कपिल सिब्बल समिति की पहली बैठक (22.11.2004) के बाद साढ़े चार साल से ज्यादा समय बीत चुका है लेकिन यू.पी.ए. सरकार को इस महत्वपूर्ण विधेयक पर जनता से सलाह– मशविरे के लिए समय नहीं मिला है और यह तय है कि इसे जल्द ही जनता को अपनी राय व्यक्त करने का मौका दिए बगैर संसद में पारित करवा दिया जाएगा!!!

अन्य विशिष्ट क्षेत्रों में योगदान देनेवाले लोगों की होती है जो मानव संसाधन विकास मंत्री द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। संप्रग सरकार द्वारा जुलाई 2004 में गठित 'केब' में इस श्रेणी के 32 सदस्य मनोनीत किए गए थे जिनमें मेरा नाम भी था। 'केब' की अध्यक्षता मानव संसाधन विकास मंत्री स्वयं करते हैं और मंत्रालय के सचिव पदेन सदस्य–सचिव होते हैं।

'केब' की उक्त बैठक के लगभग एक हफ़्ते पहले प्राप्त बैठक से संबंधित कागजातों में कपिल सिब्बल समिति की रिपोर्ट भी मौजूद थी। शुरू में तो मैंने इस रिपोर्ट को एक तरफ़ रख दिया, यह मानकर कि यह तो मेरी पूरी तौरपर परिचित रिपोर्ट है, इसे क्या देखना। बाकी छह समितियों की रिपोर्टों का अध्ययन करने के बाद कपिल सिब्बल समिति की रिपोर्ट के पन्ने पलटे तो मैं दंग रह गया। यह तो वह रिपोर्ट (यानी विधेयक का प्रारूप) ही नहीं थी जिसे समिति की पांचवीं और आखिरी बैठक (5 जून 2005) में मेरी पूर्ण असहमति के बावजूद बाकी सभी सदस्यों की सहमति से अध्यक्ष श्री सिब्बल ने पारित करवाया था। रिपोर्ट के शुरू में भूमिका बतौर एक पूरा नया खंड जोड़ा गया जिसके जरिए बड़ी चतुराई से समिति द्वारा स्वीकृत प्रारूप को जांचने–परखने का परिप्रेक्ष्य बदलने की कुचेष्टा की गई थी। मुख्य प्रारूप में कई प्रावधान या तो बदल दिए गए या निकाल दिए गए या फिर जोड़ दिए गए। सभी तब्दीलियों के बीच एक सूत्र साफ़ पहचाना जा सकता था – कुल मिलाकर इनका मकसद शिक्षा के मौलिक अधिकार के प्रति 'राज्य' की जवाबदेही घटाना और स्कूली शिक्षा में निजी पूंजी व बाजार की भूमिका बढ़ाना था। मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि **'केब' जैसे लोकतांत्रिक और उच्च–स्तरीय निकाय में इस हद तक का घपला किया जा सकता है और वह भी एक प्रतिष्ठित केंद्रीय मंत्री के मार्गदर्शन में। शायद इसी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर श्री कपिल सिब्बल को अब मानव संसाधन विकास मंत्री बनाकर पुरस्कृत किया गया है।**

मैंने भोपाल से '**पब्लिक स्टडी ग्रुप ऑन केब कमेटीज़**'[13] ('केब समितियों पर सार्वजनिक अध्ययन दल') के सदस्यों को संपर्क करके इस घपले की जानकारी दी। पब्लिक स्टडी ग्रुप के सक्रिय सदस्य स्व. डॉ. मदन झा (बिहार आई.ए.एस. कैडर, उस समय अध्ययन अवकाश पर और शिक्षा में शोधरत) की सलाह पर दिल्ली में पब्लिक स्टडी ग्रुप की तत्काल बैठक बुलाई गई जिसमें सबने इस घपले की गंभीरता को समझा और तय हुआ कि 'केब' के मनोनीत 32 सदस्यों में इस खतरनाक प्रारूप पर सहमति बनाई जाए। 'केब' की बैठक में बमुश्किल तीन दिन बचे थे। सबसे पहले पब्लिक स्टडी ग्रुप ने बाल मजदूरों को शिक्षा का अधिकार दिलाने के काम के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कृत कपिल सिब्बल समिति की एक विख्यात सदस्य को इस घपले की जानकारी दी। फिर दिल्ली में मौजूद चंदेक अन्य सदस्यों को भी सूचित किया। इस भागदौड़ में दो दिन और हाथ से निकल गए। लेकिन यह ज़रूरी था कि समिति द्वारा स्वीकृत प्रारूप में की गई अनाधिकृत तब्दीलियों का वस्तुनिष्ठ और तार्किक विवरण लिखकर पेश किया जाए। मेरा कंप्यूटर भोपाल में था। अतः मैंने किसी का लैपटॉप उधार मांगा और रातभर जागकर

---

[13]अगस्त 2004 में भारत जन विज्ञान जत्था एवं काउंसिल फ़ॉर सोशल डेवलपमेंट, नई दिल्ली के संयुक्त तत्वावधान में 'पब्लिक स्टडी ग्रुप ऑन केब कमेटीज़' ('केब समितियों पर सार्वजनिक अध्ययन दल') एक अनूठी पहल थी जिसमें बड़ी संख्या में बुद्धिजीवियों और समाजकर्मियों ने हिस्सा लिया। शिक्षा नीति निर्माण के इतिहास में शायद यह पहला उदाहरण है जब किसी औपचारिक सरकारी निकाय के द्वारा नीति निर्माण की प्रक्रिया के दौरान एक जन समूह ने सीधे संगठित हस्तक्षेप करके प्रक्रिया को प्रभावित करने की कोशिश की हो। इस पहल के तहत 'केब' की सातों समितियों को विधिवत ढंग से नीति संबंधित दस्तावेज, परिप्रेक्ष्य, शोधपत्र, आलेख और आंकड़े उपलब्ध कराए गए। इन समितियों में जिन मुद्दों पर विचार हो रहा होता था, उसकी अग्रिम जानकारी लेकर उससे संबंधित जनपक्षी टिप्पणियां और सुझाव भी भेजे गए। समय–समय पर समिति के अध्यक्षों और सदस्यों से भी मुलाकात करके उनके सोच को प्रभावित करने के प्रयास किए गए। लेकिन कुल मिलाकर अनुभव निराशाजनक था चूंकि अक्सर समिति अध्यक्षों ने इस जन पहल को नज़रअंदाज किया। कहीं–कहीं दबाव डालने पर भेजी गई सामग्री समिति के रिकार्ड में दर्ज की गई लेकिन कई बार इतना भी नहीं हुआ। अंततः जब 'केब' की 53वीं बैठक (14 जुलाई 2005) में सातों समितियों की रिपोर्टें पेश हुईं तो उन पर 'पब्लिक स्टडी ग्रुप' की ओर से एक विस्तृत समिति–वार विश्लेषणात्मक टिप्पणी उसी बैठक में सभी सदस्यों को बांटने के लिए 'केब' के सदस्य–सचिव से अनुमति मांगी गई। अपेक्षानुसार अनुमति नहीं मिली। तब सदस्य–सचिव को मैंने 'केब' सदस्य की हैसियत से लिखकर कहा कि यदि पांच मिनट में अनुमति नहीं दी गई तो बगैर अनुमति के ही 'पब्लिक स्टडी ग्रुप' की रिपोर्ट की प्रतियां बांट दी जाएंगी। इस दबाव में अनुमति मिली। यह अनुभव ठीक वैसा ही था जैसा कि उसी बैठक में मेरा अनुभव विधेयक में अनाधिकृत तब्दीलियों को उजागर करने वाले दस्तावेज को 'केब' के पटल पर रखने का था।

चार पृष्ठों का दस्तावेज तैयार किया जिसमें कपिल सिब्बल समिति में स्वीकृत प्रारूप और 'केब' में पेश होनेवाली रिपोर्ट के बीच के अंतरों की तालिकाबद्ध तुलना थी और साथ में हर तब्दीली के शैक्षिक निहितार्थ का ब्यौरा भी। अगली सुबह (14 जुलाई 2005) तड़के एक नौजवान समाजकर्मी साथी (श्री मित्र रंजन) को उठाया जिन्होंने एक फोटोकॉपी दुकान खुलवाकर उक्त दस्तावेज की तुरत–फुरत सवा सौ प्रतियां बनवा लीं। 'केब' की बैठक शुरू होने के पहले मैं विज्ञान भवन के हाल के बाहर फोटोप्रतियों का भारी बंडल लेकर मौजूद था। वहां खड़ा मैं मनोनीत सदस्यों को अपने दस्तावेज के आधार पर समझाने के लिए तैयार था कि श्री सिब्बल को इस अनाधिकृत रपट पेश करने से रोकना एक कारगर रणनीति होगी ताकि भारत के प्रगतिशील तबकों को एक जनपक्षी विधेयक बनवाने की लड़ाई आगे बढ़ाने के लिए ज़रूरी समय मिल जाए। मुझे अपने विश्लेषणात्मक दस्तावेज की ताकत पर पूरा भरोसा था कि जो लड़ाई कपिल सिब्बल समिति के अंदर नहीं जीती जा सकी, वह 'केब' के व्यापक और लोकतांत्रिक फलक पर अवश्य जीत ली जाएगी। आखिरकार, तार्किक व तथ्यात्मक विश्लेषण को कौन झुठला सकता था? विज्ञान का यही ऐतहासिक सबक हमने सीखा था।

लेकिन यह मेरी कितनी बड़ी गलतफ़हमी थी, यह जानते देर नहीं लगी। जिस अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कृत कपिल सिब्बल समिति एवं 'केब' दोनों की विख्यात सदस्य का ऊपर जिक्र किया है, उन्होंने हाल के बाहर मिलने पर बताया कि वे उस समय बैठक में मौजूद नहीं रह पाएंगी जब इस मुद्दे पर चर्चा होगी चूंकि उनकी एक और ज़रूरी 'एंगेजमेंट' है। मैं हक्का–बक्का था। क्या कपिल सिब्बल समिति और 'केब' की इतने वरिष्ठ सदस्य के लिए उस समय गैर–हाजिर रहना मुमकिन है जब शिक्षा अधिकार विधेयक पर चर्चा हो रही हो। 'केब' में इस विधेयक पर चर्चा से ज्यादा ज़रूरी 'एंगेजमेंट' और क्या हो सकता है? खैर, उक्त दस्तावेज की प्रतियां बैठक में पहुंच रहे सभी मनोनीत सदस्यों को बांटी। तब समझ आया कि मनोनीत सदस्यों में से आधे से ज्यादा सदस्य गैर–हाजिर थे – कई तो राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित हस्तियां थीं। मौजूद मनोनीत सदस्यों ने मेरा दस्तावेज पढ़कर अपनी राय बनाने का वायदा किया। राय बनाने का समय भी था चूंकि कपिल सिब्बल समिति की रपट पर भोजन के बाद दोपहर में चर्चा होने वाली थी। मैंने मनोनीत सदस्यों से यह अनुरोध तो किया ही था कि उनकी समिति द्वारा स्वीकृत प्रारूप में की गई तब्दीलियों पर जो भी राय हो लेकिन

जब मैं 'केब' में पेश रपट के अनाधिकृत होने का मुद्दा उठाऊं तो वे उसका समर्थन ज़रूर करें। सबने सिर हिलाकर हामी भरी।

लोकतंत्र का ढकोसला और बुद्धिजीवियों का समाहितीकरण

भोजन अवकाश के बाद श्री सिब्बल को अपनी समिति की रपट पेश करने के लिए 'केब' अध्यक्ष श्री अर्जुन सिंह ने आमंत्रित किया। मैंने तुरंत खड़े होकर ध्यानाकर्षण बिंदु (प्वाइंट ऑफ़ ऑर्डर) उठाने की अनुमति मांगी। तब तक अनुमति मांगने के अलावा मैंने कुछ और नहीं कहा था। लेकिन 'केब' के सदस्य–सचिव (यानी मंत्रालय के वरिष्ठतम सचिव) ने इस पर कुछ ऐसे लहजे में जोर से आपत्ति की कि जैसे वे जानते थे कि मेरा ध्यानाकर्षण बिंदु क्या होने जा रहा है। जब मैंने 'केब' की लोकतांत्रिक प्रक्रिया की विश्वसनीयता के नाम पर अनुमति के लिए आग्रह किया तो सदस्य–सचिव का जो जवाब था वह याद करने योग्य है, "यह कोई संसद नहीं है कि यहां ध्यानाकर्षण बिंदु का प्रावधान हो।" मैं इधर–उधर देख रहा था कि शायद कोई मनोनीत सदस्य मेरे समर्थन में इतना भर कह दे कि इनको अपनी बात कहने की इजाज़त देने में कोई हर्ज नहीं है। लेकिन कहीं से एक भी आवाज नहीं निकली। मेरे पास इस निहायत गैर–लोकतांत्रिक माहौल में एक ही रास्ता बचा था जिसे मैंने अपनाया। अपनी जगह खड़े–खड़े बगैर अनुमति के मैंने ऊंची आवाज में कपिल सिब्बल समिति रपट में अनाधिकृत परिवर्तनों का जिक्र करते हुए अनुरोध किया कि यह अनाधिकृत रपट यहां पेश करना 'केब' की लोकतांत्रिक परंपरा का मखौल होगा। इतना कहकर बिना किसी को मौका दिए मैं यह कहते हुए मंच की ओर आगे बढ़ा कि अपनी बात के पक्ष में यह दस्तावेज 'केब' के पटल पर विचारार्थ पेश कर रहा हूं। इसके पहले कि मुझे कोई मार्शल बुलवाकर रोका जाता कि मैंने मंच पर पहुंचकर वहां मौजूद – श्री अर्जुन सिंह, श्री फ़ातमी (मंत्रालय में राज्य मंत्री), श्री कपिल सिब्बल, मंत्रालय में प्रारंभिक शिक्षा की सचिव और 'केब' के सदस्य–सचिव – सभी को अपने दस्तावेज की एक–एक प्रति जबरन थमा दी चूंकि वे इसे पकड़ने तक से घबड़ा रहे थे। सदस्य–सचिव महोदय उस समय भी माइक्रोफ़ोन पर कह रहे थे कि ऐसा करने की आपको इजाज़त नहीं है। मुझसे रहा नहीं गया, "लेकिन मैंने तो अपना दस्तावेज 'केब' के पटल पर रख दिया।" फिर मैंने अपने नौजवान साथी श्री मित्र रंजन को इशारा किया

और उन्होंने सभी सदस्यों को (खासकर राज्यों के शिक्षा मंत्रियों को) दस्तावेज की प्रतियां फटाफट बांट दीं।

कुछ देर तो उस आलीशान हाल में सन्नाटा रहा। शायद विज्ञान भवन की भव्यता पहली बार सत्ता को इस तरह खुली चुनौती देने की साक्षी रही होगी। सत्ता ने हालात पर फिर काबू पाने की कोशिश की। श्री सिब्बल ने गरजकर कहा, "इस हाल में मेरी समिति के और भी सदस्य हैं। जब तक उनमें से कोई मेरी रपट के अनाधिकृत होने के प्रो. सद्गोपाल के दावे की पुष्टि नहीं कर देता तब तक इनकी बात नहीं मानी जाएगी।" वे राजनीति के पक्के खिलाड़ी रहे हैं, उन्हें विश्वास था कि मेरे समर्थन में कोई भी मनोनीत सदस्य खड़े होने की जुर्रत नहीं करेगा। वहां उनकी समिति के दो और सदस्य (सरकारी सदस्यों को छोड़कर) मौजूद थे – जैसा ऊपर बताया है कि एक सदस्य ने तो पहले ही सुविधापूर्वक अपने को गैर–हाजिर कर लिया था। हाल में मौजूद कपिल सिब्बल समिति के दोनों सदस्य शिक्षा के क्षेत्र में नामी–गिरामी हस्ती हैं लेकिन उन्होंने चुप रहना ही बेहतर समझा। मौका ठीक देखकर श्री अर्जुन सिंह ने बैठक की कार्रवाई आगे बढ़ा दी। यह दिलचस्प है कि मनोनीत अकादमिक सदस्यों ने तो मेरा साथ नहीं दिया लेकिन बाद में अपनी बारी आने पर उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल के शिक्षा मंत्रियों ने मेरी बात पर ध्यान देने का आग्रह किया, चाहे अत्यंत विनम्र लहजे में ही सही।

बाकी चर्चा के दौरान चंदेक मनोनीत सदस्यों ने भी विधेयक के प्रारूप में सुधार के सुझाव दिए, हालांकि इनमें से कोई भी सुझाव प्रारूप के नवउदारवादी विचारधारात्मक खाके के बाहर नहीं था यानी सभी सुझाव वैश्विक पूंजी और बाजार द्वारा तय किए गए दायरे के अंदर थे। जब मेरी बारी आई तो समिति की रपट में अनाधिकृत तब्दीलियों की बात तो विस्तार से रखी ही लेकिन साथ में शिक्षा के मौलिक अधिकार, संविधान में दिए गए समानता व सामाजिक न्याय के मौलिक अधिकार और समान स्कूल प्रणाली के त्रिकोणीय रिश्ते की व्याख्या करते हुए एक वैकल्पिक विधेयक की अपील भी की। हमेशा की तरह शिक्षा के मौलिक अधिकार पर निजीकरण व बाजारीकरण के कारण हो रहे हमलों के मद्देनज़र विधेयक में निजी पूंजी और बाजार के नियमन, निगरानी व नियंत्रण के लिए कड़े कानूनी प्रावधान बनाने का आग्रह भी रखा। निःसंदेह, जैसा अपेक्षित था, यह सब नक्कारखाने में

तूती की आवाज़ साबित हुई। बैठक के अंतिम काल में श्री अर्जुन सिंह ने अपनी समापन टिप्पणी दी। इस कहानी के संदर्भ में श्री अर्जुन सिंह की दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली, उन्होंने कहा कि *सात समितियों की रपटों में से छह रपटों पर कोई खास विवाद नहीं था अतः उन्हें सदस्यों के सुझावों के साथ स्वीकारा जाता है। लेकिन शिक्षा अधिकार विधेयक वाली समिति की रपट पर काफ़ी विवाद है अतः उसपर सरकार फैसला करेगी कि अगला कदम क्या होगा।* ***आखिरकार, 'केब' एक सलाहकार निकाय है, आपने अपने–अपने मूल्यवान सुझाव दे दिए, इसके लिए सरकार आप सबकी कृतज्ञ है।*** वाह, मानना पड़ेगा कि श्री अर्जुन सिंह ने 'राजनीतिक परिपक्वता' के साथ 'केब' को भी अपनी जगह दिखा दी! श्री अर्जुन सिंह की दूसरी बात। उन्होंने घोषणा की कि *सरकार ने तय किया है कि बच्चों के अधिकार के सवाल पर कई मंत्रालयों में काम होता है जिनमें आपसी संयोजन की ज़रूरत है। इस मकसद से एक उच्च–स्तरीय बाल अधिकार आयोग गठित किया जा रहा है जो बाल अधिकार के सभी पहलुओं पर नज़र रखेगा और मंत्रालयों के बीच संयोजन भी करेगा।* इस आयोग की जिम्मेदारी उठाने के लिए उन्होंने उस अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कृत सदस्य के नाम की वहीं सार्वजनिक घोषणा कर दी जो 'केब' बैठक के पहले दिन शिक्षा अधिकार विधेयक पर चर्चा के समय अपनी किसी अन्य ज़रूरी 'एंगेजमेंट' के नाम पर सुविधापूर्वक गैर–हाजिर थीं!

बैठक का प्रतिवेदन – सच्चाई का खौफ़

इसके पहले कि 'केब' के अध्यक्ष श्री अर्जुन सिंह उक्त 53वीं बैठक के समापन की घोषणा करते कि मैंने खड़े होकर पूछा कि क्या बैठक के प्रतिवेदन में शिक्षा अधिकार विधेयक पर मेरे द्वारा उठाए गए मुद्दे दर्ज किए जाएंगे। उनका जवाब था इस सदन में जो कुछ घटा है वह बैठक के रिकार्ड का हिस्सा है। मेरा अगला सवाल था कि क्या मेरे द्वारा सदन के पटल पर रखा गया दस्तावेज भी बैठक के रिकार्ड का हिस्सा होगा। उनका जवाब था, बेशक होगा। मेरे पास उनके इस आश्वासन पर भरोसा करने के अलावा कोई और चारा नहीं था।

'केब' की अगली यानी 54वीं बैठक 6–7 सितंबर 2005 को हुई जिसका प्रमुख एजेंडा एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा बनाई गई राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा पर विचार करना था। इस बैठक के पहले प्राप्त एजेंडा–संबंधी कागजातों में

14 जुलाई की 53वीं बैठक का प्रतिवेदन भी था। उसमें कहीं भी शिक्षा अधिकार विधेयक पर मेरे द्वारा उठाए गए मुद्दों या सदन के पटल पर रखे गए दस्तावेज का जिक्र तक नहीं था, विधेयक के प्रारूप पर हुई तीखी बहस या पेश किए गए रचनात्मक सुझावों का भी नहीं। प्रतिवेदन में दर्ज था कि कपिल सिब्बल समिति रपट भी अन्य छह समितियों की रपटों के समान बगैर किसी विवाद के स्वीकार ली गई! मेरी बातों को बैठक के रिकार्ड से बाहर करने की बात छोड़िए, खुद 'केब' अध्यक्ष श्री अर्जुन सिंह की 14 जुलाई की बैठक में समापन टिप्पणी कि शिक्षा अधिकार विधेयक वाली समिति की रपट पर काफ़ी विवाद है, उसे भी रिकार्ड में दर्ज करना मुनासिब नहीं माना गया। इसलिए मैंने 6 सितंबर को बैठक के शुरू होते ही एक बार फिर ध्यानाकर्षण बिंदु उठाने की अनुमति मांगी। 'केब' अध्यक्ष श्री अर्जुन सिंह ने इस बार अनुमति तो दे दी, लेकिन अनुमति देने से पहले इतनी सावधानी ज़रूर बरती कि सारे मीडिया को हाल छोड़ने को मजबूर किया। मैंने 14 जुलाई के प्रतिवेदन में उस बैठक की हकीकत को छिपाने का जिक्र करते हुए पूर्व से तैयार किया हुआ 'केब' अध्यक्ष को संबोधित पत्र पढ़कर सब को सुनाया और उनके ही द्वारा दिए गए आश्वासन एवं लोकतांत्रिक परंपराओं के अनुरूप बैठक का रिकार्ड ठीक करने की अपील की। फिर यह पत्र 'केब' अध्यक्ष को और पत्र की प्रतियां मंच पर मौजूद अन्य सभी को दीं जिसमें तत्कालीन मानव संसाधन विकास राज्य मंत्री श्री फ़ातमी, 'केब' के सदस्य–सचिव, 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा की संचालन समिति' के अध्यक्ष प्रो. यशपाल और एन.सी.ई.आर.टी. के निदेशक प्रो. कृष्ण कुमार आदि प्रतिष्ठित हस्तियां शामिल थीं। विज्ञान भवन के हाल में राज्यों के शिक्षा मंत्रियों के अलावा 'केब' के कई मनोनीत सदस्य भी मौजूद थे। किसी ने भी मेरी अपील का खुलकर समर्थन करना तक उचित नहीं माना। इसकी भी चिंता नहीं दिखी कि प्रतिवेदन की इस गड़बड़ी के चलते शिक्षा के मौलिक अधिकार के लिए एक जनपक्षी विधेयक बनाने की लड़ाई भी कमजोर हो रही है। अंततः, 'केब' के सदस्य–सचिव ने उलझन हल करने का रास्ता यह कह कर निकाला कि *14 जुलाई को हुई 53वीं बैठक के प्रतिवेदन पर इस 54वीं बैठक में चर्चा नहीं हो सकती चूंकि इसका एजेंडा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा पर विचार करना है।* यह हैरतअंगेज तर्क भी 'केब' सदस्यों के गले उतर गया!

कहानी का सबब और सबक

14 जुलाई की बैठक के अनुभव के बाद 'केब' से कोई भी उम्मीद करने का तार्किक आधार मेरे पास नहीं बचा था। तब भी 'केब' के लोकतंत्र के नाम पर हो रहे ढकोसले को उजागर करने के इरादे से 6–7 सितंबर की बैठक में मैंने अपनी लड़ाई को आगे बढ़ाया। आम जनता के सामने यह ठोस अनुभव इतना तो सिद्ध करता ही है कि ये तथाकथित लोकतांत्रिक निकाय व मंच अपनी विश्वसनीयता पूरी तरह खो चुके हैं – उनकी भूमिका सरकार द्वारा पहले से ही लिए गए निर्णयों पर मोहर लगाने तक सीमित कर दी गई है। इस संदर्भ में इन निकायों व मंचों में मनोनीत **बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, समाजकर्मियों एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियों की भूमिका सरकारी फैसलों पर मोहर लगाने की उपरोक्त प्रक्रिया का अपनी 'लब्धप्रतिष्ठित' मौजूदगी से वैधानीकरण करना है ताकि देश में लोकतांत्रिक सलाह–मशविरे का भ्रम बना रहे।** इसलिए जनता को अपने अधिकारों की लड़ाई बंद कमरों में नहीं वरन् बाहर सड़कों पर जन आंदोलन के जरिए लड़नी होगी। बुद्धिजीवियों की परीक्षा यही है कि वे अपने भ्रमों के दायरों को तोड़कर जन आंदोलन को समृद्ध करने में अपने ज्ञान का योगदान दें अन्यथा उनकी विश्वसनीयता पर भी 'केब' की तरह सवालिया चिह्न लग जाएंगे। **'केब' की इस कहानी को सुनाने का मेरा बस यही सबब और यही सबक है।■**

उभरती जन चेतना, उभरता जन अभियान

शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा दिलवाने के लिए जनता की लड़ाई के बीज तो सन् 1882 में बो दिए गए थे जब महात्मा फुले ने अपना विख्यात ज्ञापन ब्रिटिश सरकार के हंटर आयोग को पेश किया था। सन् 1911 में गोपाल कृष्ण गोखले ने इंपीरियल असेंबली में 'मुफ़्त और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा' का विधेयक पेश करके और सन् 1937 में महात्मा गांधी ने वर्धा के अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन में सात प्रांतों की नवनिर्वाचित कांग्रेस सरकारों के शिक्षा मंत्रियों को प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमीकरण करने की चुनौती देकर जनता की चेतना को नई दिशा दी। भारतीय संविधान की तैयारी के दौरान संविधान सभा में 14 साल की उम्र तक के बच्चों की शिक्षा के प्रावधान को मौलिक अधिकार वाले खंड तीन में रखने के लिए प्रस्ताव पर जमकर बहस हुई। तब एक बार फिर अभिजात् तबके का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिक नेतृत्व ने इस प्रस्ताव का उसी तर्ज पर विरोध किया जिस तरह सन् 1911 में गोपाल कृष्ण गोखले के प्रस्ताव का तत्कालीन सामंती और नवधनाढ्य ताकतों ने किया था। उक्त इतिहास से साफ है कि 'मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा' को मौलिक अधिकार का दर्जा देने की कोशिश जब–जब हुई तब–तब भारतीय शासक वर्ग और इसके प्रतिनिधियों ने रास्ते में रोड़े अटकाए।

93वां संविधान संशोधन – नवउदारवादी एजेंडा बनाम जनपक्षी विमर्श

28 नवंबर 2001 को लोक सभा में राजग (एन.डी.ए.) सरकार ने 93वें संविधान संशोधन[14] के नाम से लोक सभा में विधेयक पेश किया। जैसा कि इस पुस्तिका में बार–बार स्पष्ट किया गया है, 93वें संशोधन का मकसद सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन फैसले (1993) के असर को शिथिल और विकृत करना था।[15] साथ में इसका मकसद यह भी सुनिश्चित करना था कि नब्बे

[14]बाद में इसी का क्रमांक बदलकर 86वां संविधान संशोधन हो गया।

[15]इसी मकसद से संयुक्त मोर्चा सरकार ने भी जुलाई 1997 में 83वां संविधान संशोधन विधेयक राज्य सभा के पटल पर रखा था जिसमें 93वें (यानी 86वें) संशोधन विधेयक की खामियों के अलावा 'राज्य' पर निजी स्कूलों के बारे में कोई भी कानूनी प्रावधान बनाने पर

के दशक में नवउदारवादी नीतियों के चलते विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित डी.पी.ई.पी. (जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम) में जो भी संविधान–विरोधी नीतिगत परिवर्तन किए गए थे और जिनको सर्व शिक्षा अभियान में जारी रखने का इरादा था, उनका इस संविधान संशोधन के जरिए वैधानीकरण हो जाए ताकि उनपर कभी कोई सवाल न उठा सके (इस तर्क के पूरे विवरण के लिए देखिए पृष्ठ 17–25, 37–38, 62–67)। लेकिन शासक वर्ग यह जन–विरोधी काम इस तरह से करना चाहता था कि जनता में उसकी एक प्रगतिशील छवि का संदेश जाए और कोई इस मंशा को समझ भी न पाए। इतिहास गवाह है कि आज़ादी की लड़ाई की विरासत को सहेजने वाले भारतीय संविधान के उक्त दुरुपयोग को इस पुस्तिका के लेखक ने उसी दौर में समझ लिया था। 28 नवंबर 2001 को ही इस लेखक के दो लेख छपे – हिंदी में प्रकाशित लेख (राष्ट्रीय सहारा) को यहां शामिल किया गया है (देखिए दस्तावेज क्र. 1, पृष्ठ 110–115), अंग्रेजी का लेख 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' में छपा। दोनों में चेतावनी थी कि 93वां संशोधन किस प्रकार सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिया गया शिक्षा का अधिकार छीनेगा और इसके जरिए खंड तीन में जोड़े गए अनुच्छेद 21(क) का वाक्यांश कि मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा "उस रीति से दी जाएगी जिसका निर्धारण राज्य कानूनन" करेगा, सरकार को मनमानी करने की छूट और विश्व बैंक की नवउदारवादी नीतियों के वैधानीकरण का आधार देता है। उम्मीद थी कि इस तर्क को प्रगतिशील सांसद तो ज़रूर सुन लेंगे और अपनी अंतरात्मा की आवाज़ के आधार पर 93वें संशोधन के खिलाफ़ मत देंगे या फिर उसमें जनपक्षी बदलाव लाने के

रोक लगा दी गई थी। इस विधेयक की भी सार्वजनिक आलोचना हुई, खासकर निजी स्कूलों को शिक्षा अधिकार के दायरे के बाहर रखने के सवाल पर। इसके चलते संसदीय स्थाई समिति ने अक्तूबर 1997 में जन सुनवाई का भी आयोजन किया। लेकिन जन सुनवाई में उठाए गए अधिकांश मुद्दों (जिसमें 6 साल से कम आयु के बच्चों का अधिकार छीनने, समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा और समान स्कूल प्रणाली के मुद्दे शामिल थे) को दरकिनार करते हुए संसदीय स्थाई समिति ने नवंबर 1997 में अपनी 63वीं रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों को सौंप दी। इस रिपोर्ट की एक प्रगतिशील सिफ़ारिश थी कि 'राज्य' पर निजी स्कूलों के बाबत कानून बनाने हेतु रोक लगाने वाला प्रावधान हटा दिया जाए। यह सिफ़ारिश देना चंदेक सासंदों के सख्त विरोध के बावजूद संभव हुआ। 83वें संविधान संशोधन विधेयक के समय शिक्षा अधिकार के सवाल पर जन विमर्श अपने शुरूआती दौर में था और इससे संबंधित बाजार की ताकतों और एन.जी.ओ. राजनीति भी। इसकी तुलना सन् 2001–02 में 93वें संविधान संशोधन विधेयक के संदर्भ में घटी राजनीतिक घटनाओं से करना दिलचस्प होगा लेकिन जगह और समय की सीमा को देखते हुए इस महत्वपूर्ण काम को स्थगित किया जा रहा है।

लिए संसद में आवाज बुलंद करेंगे। लेकिन यह उम्मीद पूरी तौर पर निराधार साबित हुई, सिवाय तीन सांसदों द्वारा शिक्षा अधिकार की अवधारणा को कुछ हद तक बचा लेने के लिए पेश किए गए संशोधन प्रस्तावों के जिनको भी लोक सभा ने बहुमत से खारिज कर दिया या वापस लेने के लिए मजबूर किया।

दो 'विरोधाभासी' घटनाएं, एक परिघटना

शिक्षा अधिकार के विमर्श में 28 नवंबर 2001 को दो 'विरोधाभासी' दिखनेवाली घटनाओं के रूप में याद किया जाता है, हालांकि अंततः वे दोनों घटनाएं एक ही परिघटना के दो रूप साबित हुई हैं। एक ओर, लोक सभा में विरोधी पक्ष के कई सांसदों ने 93वें संशोधन (जिसे अब 86वें संशोधन के रूप में जाना जाता है) की चंदेक (सभी नहीं) खामियों के खिलाफ बढ़–चढ़कर भाषण दिए जिसमें प्रतिपक्ष की तत्कालीन नेता सुश्री सोनिया गांधी का भी आलोचना का स्वर वाला भाषण शामिल था। दूसरी ओर, दिल्ली के रामलीला मैदान में एक अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषित व ख्यातिप्राप्त एन.जी.ओ. द्वारा 93वें संशोधन विधेयक के विरोध में रैली का आयोजन किया गया जिसमें विभिन्न राज्यों से लगभग 40 हजार मैदानी कार्यकर्ता शामिल हुए।

लोक सभा जिसका मकसद 93वें संविधान संशोधन को पारित करना था और रामलीला मैदान की रैली जिसका मकसद प्रस्तावित संशोधन का प्रतिरोध करते हुए उसमें जनपक्षी बदलाव के लिए सरकार और सांसदों पर दबाव बनाना था, अंततः विरोधाभासी घटनाएं नहीं रहीं। जहां एक ओर 93वें संशोधन के विरोध में भाषण देनेवाले प्रतिपक्ष के सांसदों ने भी अपना मत सरकारी प्रस्ताव के पक्ष में डाल दिया, वहीं दूसरी ओर प्रतिरोध की रैली के अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषित एन.जी.ओ. नेतृत्व ने भी अचानक अपना पैतरा बदलते हुए 93वें संशोधन का सारा श्रेय अपने ऊपर ले लिया है। हजारों कार्यकर्ता, जिनके गले में 93वें संशोधन के खिलाफ़ और उनकी मांग न माने जाने पर आमरण अनशन करने के नारों सहित बिल्ले लटक रहे थे, अपने मायूस और दुविधामय चेहरे छिपाकर घर लौट गए। उसी रात को एक मशहूर टीवी चैनल पर उक्त एन.जी.ओ. 'नेता' ने एंकर द्वारा 93वें संशोधन के लोक सभा में पारित हो जाने के लिए बधाई कुछ इस लहजे में स्वीकारी जैसे उन्होंने रैली इसी मकसद से आयोजित की थी। इसलिए शिक्षा अधिकार के आंदोलन के इतिहास में 28 नवंबर 2001 को एक साधन–संपन्न और मीडिया

में नामी–गिरामी एन.जी.ओ. द्वारा जनता को धोखा देने के काले दिन के रूप में दर्ज किया जाएगा (देखिए दस्तावेज क्र. 2, पृष्ठ 116–125)। इसके बाद जनता की आवाज को बुलंद करने का दावा करनेवाले एन.जी.ओ. पर कौन विश्वास करेगा? उधर विडंबना है कि इन एन.जी.ओ. 'नेता' को पिछले साल टाईम्स ऑफ़ इंडिया ने युवा भारत के सौ प्रेरणादायक प्रतीकों में शामिल किया – शायद 28 नवंबर 2001 को रामलीला मैदान में जनता को धोखा देने में 'सफलता' के लिए!

लोक सभा में 93वें संशोधन पर बहस और मतदान के पहले शिक्षा अधिकार पर सक्रिय समूहों का एक प्रतिनिधिमंडल प्रतिपक्ष के विभिन्न राजनीतिक दलों के नेतृत्व के पास सरकारी प्रस्ताव में जनपक्षी बदलाव हेतु दबाव बनाने गया था। हरेक दल को अपने तर्कों के पक्ष में ढेर सारी तथ्यात्मक रपटें भी पेश कीं। इसी का परिणाम था कि कुछ सासंदों ने लोक सभा में 93वें संशोधन की खामियां उजागर करनेवाले भाषण भी दिए। फिर भी ऐसे सांसदों ने मतदान में राजग सरकार का साथ दिया। बाद में सभी ने कहा कि प्रतिपक्ष अल्पमत में था जिसके चलते 93वें संशोधन को रोक पाना संभव नहीं था। वाम के एक मशहूर नेता ने अपने बचाव में बताया कि "अगर हम 93वें संशोधन के खिलाफ़ मतदान करते तो सरकार को यह दुष्प्रचार करने का मौका मिल जाता कि वाम दलों ने शिक्षा अधिकार बिल का विरोध किया। तो फिर हम यह जोखिम क्यों उठाएं?" हमने उनसे पूछा कि आप जनता के पास जाकर यह क्यों नहीं कह सकते थे कि "93वां संशोधन धोखा है, यह अधिकार देता नहीं, वरन् छीनता है? यह आपको सरकार के वर्ग चरित्र का पर्दाफाश करने और जन चेतना निर्माण करने का मौका दे रहा था। यह आपने क्यों नहीं किया?" इसका उनके पास कोई जवाब नहीं था। कांग्रेस के नेतृत्व से तो ऐसे सवाल करने के भी कोई मायने नहीं थे।

राजनीतिक दल – नवउदारवादी एजेंडे के सामने नतमस्तक

चंदेक माह बाद 93वां संशोधन राज्य सभा में पहुंचा जहां लोक सभा से विपरीत स्थिति थी – यहां सरकारी पक्ष अल्पमत में था, प्रतिपक्ष बहुमत में। प्रतिपक्ष के नेता कांग्रेस की ओर से डॉ. मनमोहन सिंह थे। राज्य सभा में विधेयक पेश होने के लगभग दो सप्ताह पहले शिक्षाविदों और समाजकर्मियों का हमारा प्रतिनिधिमंडल उनसे मिलने संसद भवन पहुंचा। हमने अपनी बात शरू ही की थी कि वे बोले, "मैंने सोचा था कि यह मामला 'सैटल' हो चुका

है।" 'सैटल' के मायने क्या थे, हमारी समझ के परे था। तो उन्होंने समझाया, "श्री अर्जुन सिंह के नेतृत्व में कांग्रेस का एक प्रतिनिधिमंडल राजग सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ. मुरली मनोहर जोशी से मिलने गया था और चर्चा के बाद संतुष्ट होकर लौटा। इसका मतलब है कि मामला 'सैटल' हो गया।" हमसे रहा नहीं गया, "लोक सभा में पारित 93वें संविधान संशोधन की उन खामियों का क्या हुआ जिन पर हमने आपकी पार्टी के नेतृत्व का ध्यान बार–बार खींचा है? राज्य सभा में तो प्रतिपक्ष का बहुमत है तो यहां आप इस संविधान–विरोधी, बाल–विरोधी और शिक्षा–विरोधी बिल को सुधरवाने का काम क्यों नहीं कर सकते?" उस समय के प्रतिपक्ष के नेता और अब दूसरी बार बने प्रधानमंत्री का जवाब था, "बिल के इन सब 'डीटेल्स' से मैं परिचित नहीं हूं। आप लोग कांग्रेस अध्यक्ष से मिल लें तो बेहतर होगा।" हमारा प्रतिनिधिमंडल प्रो. यशपाल की अध्यक्षता में आदरणीय सोनियाजी को मिला लेकिन वहां भी कोई तार्किक चर्चा नहीं हो सकी। वहां सलाहकार के रूप में मौजूद पूर्व गृहमंत्री श्री शिवराज पाटिल तो सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन फैसले के महत्व को ही खारिज कर रहे थे। हमने बड़ी उम्मीद से सोनियाजी से अपील की, "आपने लोक सभा में प्रतिपक्ष के नेता होने के नाते अपने भाषण में जिन मुद्दों को उठाया था, संविधान संशोधन विधेयक में कम–से–कम उतना सुधार तो हो ही सकता है। आखिरकार, यहां तो प्रतिपक्ष का बहुमत है और कुछ नहीं तो बिल को मानव संसाधन विकास मंत्रालय की संसदीय स्थायी समिति में तो भिजवाया ही जा सकता है। वहां जन सुनवाई के दौरान हम लोग जन दबाव बना लेंगे।" यह हमारे तरकश में आखिरी तीर था। "पार्टी में आपके सुझावों पर विचार करेंगे", इस आश्वासन के साथ हमें निराश होकर लौटना पड़ा। कुछ दिन बाद अखबारों में पढ़ लिया कि राज्य सभा में भी 93वां संविधान संशोधन बिल पूर्ण सहमति से पारित हो गया!

12 दिसंबर 2002 को शिक्षा का मौलिक अधिकार छीननेवाले और संविधान के समानता और सामाजिक न्याय के मूल सिद्धांतों का उल्लंघन करनेवाले उक्त बिल पर तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. कलाम ने भी बगैर कोई सवाल उठाए दस्तखत कर दिए।[16] यह विडंबना ही है कि संविधान का उल्लंघन

[16]पूर्व राष्ट्रपति डॉ. कलाम से जुलाई 2002 में प्रो. यशपाल और इस लेखक ने मिलकर 93वें संशोधन और संविधान के बीच के विरोधाभासों की लिखित जानकारी दी और उनसे उस संशोधन को पुनर्विचार के लिए सरकार को वापस भेजने का भी अनुरोध किया था।

करनेवाला 93वां (आज का 86वां) संविधान संशोधन विधेयक, अधिनियम का दर्जा पाकर संविधान का हिस्सा बन गया[17] और सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिया गया शिक्षा का मौलिक अधिकार एक मखौल बन गया!

शिक्षा का नवउदारवादी एजेंडा – भाजपा और कांग्रेस के बीच सहमति

राजग (एन.डी.ए.) सरकार के पूरे कार्यकाल (1998–2004) में तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ. मुरली मनोहर जोशी देश के प्रगतिशील बुद्धिजीवियों और समाजकर्मियों की आलोचना का केंद्र बने रहे। एक मायने में यह ज़रूरी भी था चूंकि डॉ. जोशी का प्रमुख एजेंडा देश की पाठ्यचर्या (करीकुलम) के धर्मनिरपेक्ष चरित्र पर संघ परिवार की सांप्रदायिक, कट्टरवादी और संविधान–विरोधी विचारधारा थोपना था। उनके इस एजेंडे के खिलाफ़ आलेखों, सेमिनारों, प्रदर्शनों व संसद में सवालों की बौछार सी लग गई। इस प्रतिरोध में मैंने भी बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया था। लेकिन अधिकांश आलोचक यह भूल गए थे कि वैश्वीकरण के उस दौर में आर्थिक नीतियों के सवाल पर कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी के एजेंडे में कोई उल्लेखनीय फर्क नहीं रह गया था। इसके मायने हैं कि शिक्षा को बाजार में खरीद–फरोख्त का माल बनाने और राज्य द्वारा शिक्षा के प्रति अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पल्ला झाड़ने की नीति पर इन दोनों बड़े दलों की समान राय थी। अगर किसी को मेरी इस बात पर शक है तो मैं नीचे उन चंदेक नीतिगत फैसलों को सूचिबद्ध कर रहा हूं जिनको या तो नब्बे के दशक में कांग्रेस और संयुक्त मोर्चे की सरकारों ने लिया लेकिन भाजपा–नीत राजग सरकार ने आगे बढ़ाया या फिर राजग सरकार ने लिया लेकिन सन् 2004 में गठित होने वाली कांग्रेस–नीत संप्रग (यू.पी.ए.) सरकार ने आगे बढ़ाया –

- स्कूली शिक्षा में घटिया स्तर की समानांतर परतें बिछाने और भेदभावपूर्ण शिक्षा देने वाले सर्व शिक्षा अभियान की शुरूआत राजग सरकार ने सन् 2000 में की लेकिन सन् 2004 में संप्रग सरकार ने उसी कार्यक्रम को बिना कोई बदलाव किए आगे बढ़ाया।

---

[17]यह उल्लेखनीय है कि 86वें संविधान संशोधन के संविधान का हिस्सा बनने में अभी भी एक औपचारिकता बची है – सरकार द्वारा अधिसूचना जारी करने की। यह तभी होगा जब संसद द्वारा अनुच्छेद 21(क) के तहत शिक्षा अधिकार विधेयक पारित हो जाएगा और उसपर राष्ट्रपति के दस्तखत हो जाएंगे। ऐसा करने में हुई साढ़े छह साल की राजनीतिक देरी के संबंध में इस पुस्तिका के पिछले कवर पर दिए गए मंत्रालय के गोपनीय पत्र को देखना प्रासंगिक होगा।

- उच्च/तकनीकी/पेशेगत (प्रोफ़ेशनल) शिक्षा का तेजी से निजीकरण और बाजारीकरण करने के लिए राजग सरकार ने जो नीतियां शुरू की थीं वे संप्रग सरकार के कार्यकाल में न केवल चालू रहीं बल्कि उनमें और अधिक इजाफ़ा हुआ, जैसे निजी संस्थानों को डीम्ड विश्वविद्यालय की मान्यता देने के लिए आवश्यक नियमों व मानदंडों में ढील देना (जिसका नकारात्मक असर जून 2009 में तामिलनाडू के डीम्ड विश्वविद्यालयों में विस्फोट समान हुआ है)[18] एवं विद्यार्थियों को कई लाख तक के रियायती दरों पर ऋण देना।
- शिक्षा के हर स्तर पर सार्वजनिक–निजी साझेदारी (पी.पी.पी.) के जरिए कॉरपोरेट घरानों और एन.जी.ओ. को सरकारी संसाधन मुहैय्या कराने का एजेंडा सन् 1999 के राजग के घोषणापत्र में था और इसके लिए राजग के कार्यकाल में ही योजना आयोग की एक समिति गठित हो गई थी जिसकी रपट संप्रग के कार्यकाल में पेश हुई। इस रपट को संप्रग सरकार ने स्वीकार करके सार्वजनिक–निजी साझेदारी की नीति को 11वीं पंचवर्षीय योजना में शामिल किया और तुरत–फुरत लागू भी किया।
- सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अंश के रूप में शिक्षा में सालाना सार्वजनिक खर्च घटाने की प्रक्रिया सन् 1991 में ही कांग्रेस के कार्यकाल में शुरू हो गई थी। इस नीति को संयुक्त मोर्चा और राजग की सरकारों ने, सिवाय बीच के दो वर्षों को छोड़कर, जारी रखा। सन् 2004 में संप्रग सरकार के बनने के बाद इस प्रक्रिया में और तेजी आई चूंकि प्रारंभिक

---

[18]हालांकि नए मानव संसाधन विकास मंत्री श्री कपिल सिब्बल अपराधी तत्वों के खिलाफ़ कड़ी कार्रवाई का वायदा कर रहे हैं, उन्हें तीन तथ्य याद दिलाना ज़रूरी है। पहला, डीम्ड विश्वविद्यालयों की मान्यता देने के लिए मानदंडों व नियमों में ढील देने की नीति का फ़ैसला उन्हीं की संप्रग सरकार के शीर्षस्थ स्तर पर लिया गया है। दूसरा, मंत्री पद संभालते ही खुद उन्होंने जो पहली घोषणा की थी वह 'विदेशी शिक्षा प्रदाता नियमन विधेयक' पेश करने की थी जिसके तहत ठीक इसी तर्ज में विदेशी उच्च शैक्षिक संस्थानों के मानदंडों व नियमों में ढिलाई की नीति लागू की जाएगी। तीसरा और ज्यादा महत्वपूर्ण तथ्य, राज्य सभा में अनुच्छेद 21(क) के तहत पेश मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक उन्हीं के मार्गदर्शन में तैयार हुआ है लेकिन उसमें निजी स्कूलों के नियमन के मुद्दे को सरकार के कर्त्तव्यों की सूची में शामिल नहीं किया गया है। दिलचस्प बात यह है कि उन्हीं की समिति ने जून 2005 में इस विधेयक का जो प्रारूप तैयार किया था उसमें सरकार के कर्त्तव्यों में निजी स्कूलों के नियमन का प्रावधान था लेकिन खुद उन्होंने इसे 'केब' की 53वीं बैठक (14 जुलाई 2005) में पेश करने के पहले अनाधिकृत रूप से निकाल दिया (पूरे विवरण के लिए देखिए खंड तीन, पृष्ठ 78–92)!

शिक्षा पर 2 फीसदी (और बाद में उच्च शिक्षा पर 1 फीसदी) का अतिरिक्त उपकर लगाने के बावजूद सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अंश के रूप में शिक्षा में किए जानेवाले सालाना सार्वजनिक खर्च में गिरावट जारी रही है (देखिए खंड दो, चित्र–1 में दिया गया ग्राफ़, पृष्ठ 69)।[19] यानी शिक्षा की संवैधानिक जवाबदेही से बढ़ते क्रम में बरी होने की नीति राजग व संप्रग दोनों की रही है।

- जैसा कि ऊपर स्थापित किया है, 86वें संविधान संशोधन के जरिए सुप्रीम कोर्ट के फैसले से मिले शिक्षा के मौलिक अधिकार को छीनने की नीति पर न केवल राजग व संप्रग के बीच एक राय है, वरन् इस पर वाम दलों समेत मुख्यधारा के अन्य सभी राजनीतिक दल इनके साथ रहे हैं।

जब सन् 2004 में संप्रग सरकार बनी तो शिक्षा अधिकार समूहों में एक गलतफहमी थी कि नए मानव संसाधन विकास मंत्री श्री अर्जुन सिंह राजग सरकार द्वारा अनुच्छेद 21(क) के तहत बनाए गए विधेयक के प्रारूप को सिरे से खारिज कर देंगे। ऐसा सोचना एकदम निराधार भी नहीं था चूंकि श्री अर्जुन सिंह ने डॉ. मुरली मनोहर जोशी द्वारा शिक्षा में लागू किए जा रहे सांप्रदायिक एजेंडे के खिलाफ चार्ज संभालते ही कार्रवाई शुरू कर दी थी। लेकिन राजग द्वारा अनुच्छेद 21(क) के तहत बनाया गया विधेयक शिक्षा के नवउदारवादी एजेंडे को आगे बढ़ाता था, तो उससे संप्रग के श्री अर्जुन सिंह को क्यों दिक्कत होनी चाहिए! आखिरकार, शिक्षा के नवउदारवादी एजेंडे पर राजग और संप्रग एकमत जो थे। जून 2004 में (संप्रग सरकार के गठन के लगभग 5–6 सप्ताह बाद) करन थापर के मशहूर टीवी कार्यक्रम में बार–बार पूछे जाने पर श्री अर्जुन सिंह ने यही कहा कि उन्हें राजग के प्रारूप विधेयक

[19]सन् 2007–09 के दौरान सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अंश के रूप में शिक्षा में किए जानेवाले सालाना सार्वजनिक खर्च में कुछ वृद्धि के संकेत ज़रूर मिल रहे हैं लेकिन इसका कारण माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के क्षेत्रों मे विशेष प्रकार के अभिजात् संस्थान (मॉडल स्कूल, केंद्रीय विश्वविद्यालय, आई.आई.टी., आई.आई.आई.टी. और आई.आई.एम.) खोलना और उच्च शिक्षा में पिछड़ी जातियों को दिए गए आरक्षण की भरपाई के रूप में उच्च जातियों के लिए अतिरिक्त सीटों का प्रावधान करना है, न कि आम जनता के लिए उम्दा गुणवत्ता की शिक्षा की सुविधाएं बढ़ाना। यह उल्लेखनीय है कि विगत तीन सालों में प्रारंभिक शिक्षा के एकमात्र कार्यक्रम – सर्व शिक्षा अभियान – में किए जानेवाला कुल सार्वजनिक खर्च घटा है, इसके बावजूद कि प्रारंभिक शिक्षा के लिए 2 फ़ीसदी अतिक्ति उपकर से इकट्ठे किए गए राजस्व में लगातार वृद्धि हुई है।

पर कोई खास आपत्ति नहीं है। लेकिन बाद में श्री अर्जुन सिंह पर राजग के प्रारूप विधेयक को खारिज करने का जन दबाव बढ़ता गया, तब जाकर 5 अगस्त 2004 को उनके मंत्रालय ने इसपर कार्रवाई का पहला कदम उठाया और राजग के प्रारूप का विरोध करनेवाले चंदेक लोगों के साथ सलाह–मशविरे की शुरूआत की[20]।

विधेयक के प्रारूपों की राजनीति

संप्रग (यू.पी.ए.) सरकार ने शिक्षा का मौलिक अधिकार देने का दावा करनेवाला एक नया विधेयक 15 दिसंबर 2008 को राज्य सभा में पेश किया है। याद रहे कि यह विधेयक 86वें संविधान संशोधन अधिनियम (दिसंबर 2002) के जरिए खंड तीन में जोड़े गए अनुच्छेद 21(क) के तहत लाया गया है। इस बीच बीते छह सालों के दौरान राजग (एन.डी.ए.) और संप्रग (यू.पी. ए.) सरकारों के कार्यकाल में विधेयक के क्रमशः तीन और छह प्रारूप तैयार किए गए लेकिन सभी का एक–एक करके जमकर सार्वजनिक विरोध हुआ। अगस्त 2005 में संप्रग सरकार द्वारा अपनी वेबसाइट पर जो प्रारूप डाला गया वह इस सरकार के कार्यकाल का तीसरा प्रारूप था। यह प्रारूप 'केब' में श्री कपिल सिब्बल द्वारा पेश किए गए उस विवादस्पद प्रारूप पर आधारित था जिसका जिक्र ऊपर किया गया है (देखिए खंड तीन, पृष्ठ 73–86)। इसमें शिक्षा के मौलिक अधिकार के प्रति सरकार की जवाबदेही बेहद कमतर कर दी गई थी ताकि शिक्षा का तेजी से निजीकरण और बाजारीकरण संभव हो जाए। लेकिन संप्रग सरकार के नवउदारवादी एजेंडे को इतनी कम जवाबदेही भी मंजूर नहीं थी। संप्रग सरकार से इस आशय के बयान आने लगे कि इस प्रारूप में निहित जवाबदेही को पूरा करने के लिए सरकार के पास पैसा नहीं है। अंततः प्रधानमंत्री ने यह पूरा मामला एक उच्च–स्तरीय मंत्री समूह को सौंप दिया जिसके सदस्य निम्नानुसार थे –

[20]अगस्त 2004 में मंत्रालय द्वारा आयोजित इस पहली बैठक में सरकारी पक्ष रखने के लिए उसी संयुक्त (बाद में अतिरिक्त) सचिव को बुलाया गया जिसने राजग सरकार के लिए विधेयक का प्रारूप तैयार किया था! बाद में भी जब 'केब' की कपिल सिब्बल समिति को विधेयक का नया प्रारूप तैयार करने का काम सौंपा गया, वहां भी नवउदारवादी एजेंडे को बरकरार रखने के लिए उसी संयुक्त सचिव को समिति का सदस्य–सचिव नियुक्त किया गया और उसी ने 'केब' की 53वीं बैठक में श्री कपिल सिब्बल की ओर से विधेयक के नए प्रारूप का औपचारिक प्रस्तुतीकरण किया!!

1. श्री अर्जुन सिंह, मानव संसाधन विकास मंत्री – अध्यक्ष
2. श्री पी. चिदंबरम, वित्त मंत्री (तत्कालीन) – सदस्य
3. डॉ. मॉन्टेक सिंह आहलूवालिया, उपाध्यक्ष, योजना आयोग – सदस्य
4. डॉ. सी. रंगराजन, अध्यक्ष, प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाहकार परिषद् (तत्कालीन)[21] – सदस्य

उक्त उच्च–स्तरीय मंत्री समूह ने विधेयक के प्रारूप पर लगभग तीन साल तक विचार किया!

अगस्त 2005 में वेबसाइट पर डाले गए प्रारूप के खिलाफ़ दिसंबर 2005 में नई दिल्ली में एक राष्ट्रीय सम्मेलन[22] आयोजित किया गया जिसका उद्‌घाटन भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री जे.एस. वर्मा ने किया। सम्मेलन में बुद्धिजीवियों व समाजकर्मियों के अलावा कई शिक्षक व विद्यार्थी संगठनों के प्रतिनिधियों और सैंकड़ों आदिवासियों[23] ने हिस्सा लिया। सम्मेलन की ओर से एक परचा जारी किया गया जिसमें संप्रग सरकार के उक्त प्रारूप के जनविरोधी चरित्र को उजागर करते हुए एक वैकल्पिक विधेयक का समान स्कूल प्रणाली पर टिका हुआ सैद्धांतिक खाका पेश किया गया। लेकिन संप्रग सरकार ने विधेयक पर अजीबोगरीब लंबी चुप्पी साध ली। फिर अचानक उक्त मंत्री समूह की सिफ़ारिश[24] पर जून 2006 में संप्रग सरकार ने केंद्रीय विधेयक न बनाने का हैरतअंगेज फैसला कर लिया और एक तथाकथित 'मॉडल' एक्ट (संप्रग का चौथा प्रारूप) राज्य सरकारों को भेजकर अपनी संवैधानिक जवाबदेही से **पूरी तरह पल्ला झाड़ने की कोशिश की।** इसकी

---

[21]अगस्त 2008 में मंत्रीमंडल ने डॉ. सी. रंगराजन की जगह विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के केंद्रीय मंत्री श्री कपिल सिब्बल को उच्च–स्तरीय मंत्री समूह का सदस्य बना दिया। इस बदलाव का कारण डॉ. रंगराजन का राज्य सभा का सदस्य बन जाना रहा होगा, ऐसा माना जा सकता है।

[22]इस सम्मेलन का आयोजन नवगठित 'पीपुल्स कैंपेन फ़ॉर कॉमन स्कूल सिस्टम' (पी.सी.एस.एस. या 'समान स्कूल प्रणाली की जनमुहिम') द्वारा किया गया था।

[23]दक्षिणी गुजरात और उत्तरी महाराष्ट्र के अंचल में सक्रिय लोक संघर्ष मोर्चा नामक एक आदिवासी संगठन के सदस्य।

[24]गौरतलब है कि उच्च–स्तरीय मंत्री समूह की बैठकों की कार्रवाइयां गोपनीय रखी गई। इस लेखक को किसी तरह मंत्री समूह की दो बैठकों के प्रतिवेदन उपलब्ध हो गए जिनके आधार पर यहां मंत्री समूह के विचारों व निष्कर्षों का जिक्र करना मुमकिन हुआ है।

प्रतिक्रिया में नई दिल्ली (जंतर–मंतर) और बंगलूर में विरोध प्रदर्शन[25] हुए। कुछ सप्ताह बाद एक बार फिर नई दिल्ली (जंतर–मंतर) में इसी सवाल को लेकर विरोध प्रदर्शन हुआ – इस बार एक शिक्षक संगठन[26] की पहलकदमी पर। राज्य सरकारों ने भी केंद्र द्वारा अपनी संवैधानिक जवाबदेही से मुकरने की निंदा करते हुए लिखित प्रतिवेदन भेजे। इस प्रतिरोध को देखकर संप्रग सरकार पुनर्विचार के लिए मजबूर हुई।

संप्रग सरकार ने विधेयक पर दोबारा लंबी चुप्पी साध ली। यह चुप्पी अक्तूबर 2008 में टूटी जब सरकार ने घोषणा की कि विधेयक संसद में पेश होने को तैयार है। यह विधेयक का वह प्रारूप था जो अंततः 15 दिसंबर 2008 को राज्य सभा में पेश हुआ। यह संप्रग के कार्यकाल का छठा प्रारूप था।

लेकिन इस बीच फरवरी 2008 में संप्रग सरकार का विधेयक का पांचवा प्रारूप भी तैयार हुआ। अचरज है कि इस प्रारूप को सार्वजनिक बहस के लिए उपलब्ध करने की जगह सरकार ने इसे गोपनीय घोषित कर दिया। साथ में उच्च–स्तरीय मंत्री समूह की दो साल से चल रही बैठकों के प्रतिवेदनों और मौलिक अधिकार देने के वित्तीय अनुमान (योजना आयोग द्वारा स्वीकृत होने के बावजूद) को भी गोपनीय घोषित कर दिया।

शिक्षा का मौलिक अधिकार देने से संबंधित दस्तेवेजों को गोपनीय घोषित करना भी अकारण नहीं था। आखिरकार, वैश्विक बाजार के निजीकरण और बाजारीकरण के शिक्षाई एजेंडे को आगे बढ़ाने के सबूतों को जनता से छिपाना ज़रूरी था! उच्च–स्तरीय मंत्री समूह के उपलब्ध प्रतिवेदन (4 जनवरी 2006 व 6 नवंबर 2007) इस बात के सबूत हैं कि वैश्विक बाजार के एजेंट की भूमिका को मंत्री समूह के वरिष्ठ सदस्य बखूबी निभा रहे थे। श्री चिदंबरम और डॉ. आहलूवालिया के प्रतिवेदनों में दर्ज विचार हैं कि शिक्षा का मौलिक अधिकार देने वाला विधेयक बनाना राज्य सरकारों का काम है, न कि केंद्र का। यह कहते हुए इनको यह भी ध्यान नहीं रहा कि संविधान में शिक्षा समवर्ती सूची में है जिसके मायने हैं कि केंद्र और राज्यों दोनों की संयुक्त जवाबदेही है। यह दीगर बात है कि इन्होंने सन् 2004 में भी

[25]नई दिल्ली में 'पीपुल्स कैंपेन फ़ॉर कॉमन स्कूल सिस्टम' (पी.सी.एस.एस.) द्वारा और बंगलूर में स्वयं–स्फूर्त ढंग से विख्यात कन्नड़ साहित्यकार प्रो. यू. आर. अनंतमूर्ति के नेतृत्व में आयोजित।

[26]बिहार माध्यमिक शिक्षक संगठन, पटना, बिहार।

संविधान की शपथ खाई थी और 22 मई 2009 को श्री चिदंबरम ने फिर यही शपथ दोहराई है।

डॉ. रंगराजन के पास केंद्र की वित्तीय जवाबदेही घटाने का नायाब फ़ार्मूला था जो उपरोक्त प्रतिवेदनों में कई बार दर्ज हुआ है – विधेयक के प्रारूप में स्कूलों के लिए जो पहले से ही घटिया मानदंड प्रस्तावित थे, उन्हें और कमतर या शिथिल किया जाए ताकि सरकार की वित्तीय जवाबदेही घटाई जा सके। डॉ. रंगराजन के तर्क में केवल एक पेंच था – ये घटिया मानदंड उन स्कूलों के होंगे जहां उनके अपने नाती–पोते (या नातिनें–पोतियां) कभी नहीं पढ़ेंगे चूंकि उनके घर के बच्चे तो महंगी फीस वाले वातानुकूलित स्कूलों में पढ़ेंगे। स्कूल जाने के लिए भी वातानुकूलित बसें होंगी, स्कूलों में स्विमिंग पूल होंगे जिनका तापमान शरीर के लिए आरामदेहक स्तर पर बरकरार रखने का स्वनियंत्रित इंतज़ाम होगा। हर 10–15 बच्चों को पढ़ाने के लिए एक कुशल शिक्षक होगा (यानी विद्यार्थी : शिक्षक अनुपात 1:10 या 1:15 होगा) और भाषा सीखने की कंप्यूटरिकृत लैब से लेकर ललित कला, रंगकर्म और खेलकूद की शिक्षा की पूरी व्यवस्था होगी। लेकिन डॉ. रंगराजन की तकलीफ़ यह थी कि मौलिक अधिकार वाले विधेयक में पेश मानदंडों के अनुसार हर प्राथमिक स्कूल में न्यूनतम दो शिक्षक–दो कमरे देना ज़रूरी होगा, हर 40 बच्चों के पीछे एक शिक्षक देना जरूरी होगा (यानी विद्यार्थी : शिक्षक अनुपात 1:40 होगा), चाहे वह अर्हता–विहीन, प्रशिक्षण–विहीन और वेतनमान–विहीन ठेके पर नियुक्त पैरा–शिक्षक ही क्यों न हो। क्या सरकारी स्कूलों में पढ़नेवाले दलित, आदिवासी, पिछड़ी जाति और गरीब मुस्लिम बच्चों को इससे घटिया मानदंडों के स्कूल देने से काम नहीं चलेगा? उनकी तकलीफ़ यह थी कि विधेयक के पांचवें प्रारूप में स्कूल में बिजली, टेलीफोन और एक कंप्यूटर देना ज़रूरी तो नहीं पर वांछनीय माना गया था। इसी तरह नर्सरी–किंडरगार्टन की पूर्व–प्राथमिक शिक्षा को भी वांछनीय करार दिया था। लेकिन वांछनीय भी क्यों? कहीं इन गरीब बच्चों को मालूम चल गया तो वे उनका मौलिक अधिकार मांगने लग जाएंगे! डॉ. रंगराजन का आशय था कि इन सुविधाओं के वांछनीय भी होने का जिक्र निकाल दें तो क्या नुकसान है – न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी (अंततः राज्यसभा में पेश प्रारूप में यही हुआ)। सरकारी खर्च कम करवाने का यह नायाब फ़ार्मूला खोजने के लिए कांग्रेस नेतृत्व ने खुश होकर डॉ. रंगराजन को राज्यसभा का

सदस्य बनवा दिया जहां वे निश्चिंत होकर 6 साल सरकारी खर्च पर आरामदेह ज़िंदगी बिता सकेंगे।

ऐसी चिंताओं के चलते अगस्त 2008 में जब संप्रग (यू.पी.ए.) सरकार के मंत्रीमंडल के सामने विधेयक का पांचवा प्रारूप (फरवरी 2008) आया तो उसे एक बार फिर पुनर्विचार के लिए उच्च–स्तरीय मंत्री समूह को सौंप दिया गया। इस दौर में विधेयक को अंतिम रूप देने की प्रक्रिया की कमान तत्कालीन केंद्रीय राज्य मंत्री श्री कपिल सिब्बल ने संभाल ली जिन्हें डॉ. रंगराजन की जगह मंत्री समूह का सदस्य बनाया गया था। आखिरकार, इस नाजुक दौर में वैश्विक बाजार के एक पुख्ता नुमाइंदे की जरूरत थी जो यह सुनिश्चित कर सके कि निजी स्कूलों की ताकतवर लॉबी के निहित स्वार्थों को कोई आंच नहीं आएगी और सरकारी स्कूल घटिया बने रहेंगे ताकि जनता निजी स्कूलों की मांग बढ़ते क्रम में करे। इस मकसद के लिए श्री सिब्बल से बेहतर नुमाइंदा कौन हो सकता था चूंकि वे सन् 2004–05 में विधेयक का प्रारूप बनाने वाली केब समिती के अध्यक्ष के रूप में निजी स्कूल लॉबी के हितों के मजबूत संरक्षक होने की अपनी छवि स्थापित कर चुके थे (देखिए खंड तीन, पृष्ठ 75–77)। अपनी इस छवि के अनुसार श्री सिब्बल ने फरवरी 2008 के प्रारूप को और अधिक कमजोर बनाकर अंतिम रूप दे दिया।

यहां एक और हकीकत का जिक्र करना प्रासंगिक होगा। सन् 2004–05 में श्री सिब्बल की अध्यक्षता वाली केब समिती के कार्यकाल से ही चंदेक बुद्धिजीवी और अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषित एन.जी.ओ. इस विधेयक को एक ओर सरकार की अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पल्ला झाड़ने और दूसरी ओर निजीकरण व बाजारीकरण की लॉबी के हितों को संरक्षण देने के उपयोगी साधन के रूप में देखने लगे थे। अक्सर इनकी भाषा में जनपक्षी परिवर्तन का सुर होता था लेकिन अंततः ये शासक वर्ग का ही साथ देते थे। इस संदर्भ में 28 नवंबर 2001 को दिल्ली के रामलीला मैदान में एक जानी–मानी अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषित एन.जी.ओ. द्वारा 86वें संविधान संशोधन के मौके पर पाला बदलने और जनता को धोखा देने के प्रसंग को याद करें (देखिए दस्तावेज क्र. 2, पृष्ठ 116–121)। इस दौर में भी सरकार ने वैश्विक पूंजी के खेल में जाने–अनजाने सहयोग देने को तैयार तथाकथित नागरी समाज की ऐसी ताकतों का सहयोग लिया और उन्हें प्रोत्साहित भी किया।

राज्यसभा में विधेयक – एक जनपक्षी कदम या राजनीतिक मजबूरी?

संप्रग सरकार के छठे प्रारूप को मंत्रीमंडल ने अक्तूबर 2008 में स्वीकृति दी और 15 दिसंबर 2008 को इसे राज्यसभा में पेश किया गया। इस मामले में अब और हीलहवाला करना संप्रग सरकार के अपने हित में दो कारणों से नहीं था। पहला, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा मंत्रीमंडलीय सचिवालय को लिखे गोपनीय पत्र से स्पष्ट है कि भारत सरकार समझ चुकी थी कि यदि इस विधेयक को लाने में और देरी की तो 14 साल की उम्र तक के बच्चों (6 साल से कम उम्र के बच्चों समेत) को बगैर किसी शर्त के समतामूलक शिक्षा का मौलिक अधिकार देने वाला उन्नीकृष्णन फैसला लागू रहेगा, जबकि अनुच्छेद 21(क) के तहत बननेवाला विधेयक इसको 6–14 उम्र तक के बच्चों में सीमित कर देता है और उनको भी विधेयक के जरिए तमाम शर्तों के साथ भेदभावपूर्ण और घटिया शिक्षा स्वीकारने के लिए मजबूर करता है (देखिए, इस पुस्तिका के पिछले कवर पर सरकारी पत्र का प्रकाशित अंश)। दूसरा, आम चुनाव नजदीक थे और इस विधेयक को चुनावों के पहले पारित करवाकर एक और तमगा पहन लेना संप्रग सरकार की चुनावी मजबूरी बन चुकी थी।

सरकार को यह भी खबर थी कि देश के कई हिस्सों में 86वें संविधान संशोधन और फरवरी 2008 के 'गोपनीय' विधेयक के खिलाफ़ जनता में हवा बनने लगी थी। जुलाई 2008 में दिल्ली में कई प्रदेशों के शिक्षक संगठनों, बुद्धिजीवियों और समाजकर्मियों के एक सम्मेलन[27] में उक्त विधेयक का खुलकर प्रतिरोध हुआ और मांग हुई कि विधेयक को पड़ोसी स्कूल पर आधारित समान स्कूल प्रणाली के खाके में तैयार किया जाए। सम्मेलन का एक प्रतिनिधि मंडल भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्री डी. राजा के नेतृत्व में मानव संसाधन विकास मंत्री से मिला भी और सम्मेलन में पाारित अपनी मांगे पेश भी कीं। मेरे अंग्रेजी में दो आलेख 'गोपनीय' तथ्यों के आधार पर सरकार की मंशा पर तीखे सवाल खड़ा करते हुए छप चुके थे (तहलका, 14 जून 2008; फ़ाइनेंशियल एक्सप्रेस, 9 नवंबर 2008)। कर्नाटक के शिक्षा अधिकार के जुझारू कार्यकर्ता डॉ. निरंजन अराध्या का भी तीखी आलोचनावाला अंग्रेजी में आलेख छपा (दी हिंदु, 17 अगस्त 2008)। चाहे धीरे

---

[27]नेशनल कैम्पेन कमेटी फ़ॉर राईट टू एजुकेशन थ्रू कॉमन स्कूल सिस्टम (एन.सी.सी.आर.टी.ई.सी.एस.एस.), भुवनेश्वर, उड़ीसा द्वारा 8 जुलाई 2008 को आयोजित।

से ही सही, आग सुलगनी शुरू हो चुकी थी। दिसंबर 2008 में राज्यसभा में विधेयक पेश होते ही विधेयक के औचित्य, लाभ–हानि के विश्लेषण और विरोध की आवाजें उठने लगीं। अखबारों से पता चल गया था कि राज्यसभा के अध्यक्ष ने दिसंबर 2008 में ही मानव संसाधन विकास मंत्रालय से संबंधित संसदीय स्थायी समिति से विधेयक की जांच–पड़ताल करने और एक रिपोर्ट पेश करने को कहा। आम तौर पर भारतीय लोकतंत्र में संसदीय स्थायी समिति के पास किसी विधेयक के जाने का भारी महत्व होता है चूंकि समिति ऐसे मामलों पर सार्वजनिक बहस का आयोजन करती है और आम जनता से लिखित प्रतिवेदन भी मांगती है।

इसी उम्मीद में जनवरी 2009 की शुरूआत से ही प्रस्तावित विधेयक के संविधान–विरोधी और बाल–विरोधी चरित्र की हकीकत जनता के सामने पेश करने और संसदीय स्थायी समिति के सामने जनपक्ष रखने की तैयारी शुरू हो गई। इटारसी, मध्य प्रदेश में समता विचार मंच की पहल से 11 जनवरी 2009 को एक जन सभा का आयोजन हुआ जिसमें उक्त विधेयक की चीर–फाड़ की गई और इसमें भारी संशोधनों की मांग करनेवाले ज्ञापन पर हस्ताक्षर अभियान शुरू हुआ। शायद राज्य सभा में विधेयक पेश होने के बाद इस पर देश की यह पहली जन सभा थी। यह ज्ञापन संसदीय समिति के अध्यक्ष श्री जनार्दन द्विवेदी को भेजा गया जिसकी प्रतिलिपियां राज्य सभा अध्यक्ष, लोक सभा स्पीकर, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और मानव संसाधन विकास मंत्रालय को भेजी गईं। जनवरी के तीसरे सप्ताह में जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली में विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग और महिला अध्ययन केंद्र के संयुक्त तत्वावधान में विधेयक पर सार्वजनिक सभा हुई जिसमें सैंकड़ों शिक्षकों, विद्यार्थियों और आस–पास की बस्तियों के लोगों ने हिस्सेदारी की एवं विधेयक के खिलाफ़ ज्ञापन पर दस्तखत भी किए। उसी दौर में ऐसी ही दो जन सभाएं ऑल इंडिया स्टूडेंट्स एसोसिएशन ('आईसा') ने क्रमशः जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय में आयोजित कीं और इटारसी में पारित ज्ञापन पर दस्तखत करके संसदीय स्थाई समिति को भेजे।

विधेयक की भाषा का सवाल

इस जन प्रक्रिया में एक अनपेक्षित दिक्कत आई। संसद की वेबसाईट पर विधेयक केवल अंग्रेजी में ही उपलब्ध था, हिंदी में नहीं था। सांसदों से

मांगने पर भी हिंदी संस्करण नहीं मिल पाया। यह अजीबोगरीब अनुभव था चूंकि संवैधानिक तौरपर और संसद में स्थापित परिपाटी के अनुसार संसद में पेश हरेक दस्तावेज हिंदी–अंग्रेजी दोनों में उपलब्ध होता है। इस नियम और परिपाटी को क्यों तोड़ा गया? इस सवाल का उत्तर आज तक नहीं मिला है और ना ही विधेयक का हिंदी संस्करण। इस कारण हिंदी भाषी इलाकों में (जिनमें गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, उड़ीसा आदि के भी कई क्षेत्र शामिल किए जा सकते हैं) आम जनता आज तक इस विधेयक को खुद पढ़ नहीं पाई है और अंग्रेजीदां लोगों पर निर्भर रही है। चंदेक गैर–हिंदी भाषी प्रदेशों में जनप्रयासों से इसका प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। यह पूछना स्वाभाविक है कि क्या सरकार चाहती है कि इस विधेयक पर सार्वजनिक बहस न हो और अगर हो भी तो अंग्रेजीदां तबकों तक सीमित रहे। चूंकि इन तबकों की सरकारी स्कूल व्यवस्था में कोई दिलचस्पी बची नहीं है और इनके बच्चे महंगी फीसवाले निजी स्कूलों में जाते हैं, अतः इनका इस विधेयक को समझने या इसकी खामियों को दूर करवाने में तनिक भी निहित स्वार्थ नहीं है। सरकार जानती है कि हिंदी या अन्य भारतीय भाषाओं में विधेयक उपलब्ध न होने से विधेयक को आम जनता समझ ही नहीं पाएगी और इसका विरोध भी नहीं कर पाएगी। इसलिए विधेयक को आसानी से पारित करवाया जा सकेगा, ऐसा सोच सरकार का साफ़तौर पर दिखता है। इस विधेयक के निहितार्थ इतने गंभीर हैं कि इसका अनुवाद कम–से–कम संविधान की आठवीं अधिसूची की सभी भाषाओं में होना चाहिए ताकि आम जनता इसपर अपनी राय बना सके लेकिन इसके लिए सच्चे मायने में जनपक्षी सरकार चाहिए। सरकार के इस निहायत गैर–लोकतांत्रिक रवैय्ये के मद्देनज़र भोपाल (म.प्र.) में जनवरी 2009 में ही शिक्षा अधिकार मंच का गठन हुआ ताकि विधेयक पर जन चेतना और व्यवस्थित प्रतिरोध विकसित किया जा सके।

संसदीय स्थाई समिति – लोकतंत्र का मजाक

वैसे भी संसदीय स्थायी समिति के अध्यक्ष और कांग्रेस के महासचिव श्री जनार्दन द्विवेदी बेहद हड़बड़ी में थे। राज्यसभा अध्यक्ष ने 18 दिसंबर 2008 को संसदीय स्थायी समिति को विधेयक सौंपते हुए तीन माह के अंदर अपनी रपट पेश करने के लिए कहा था। लेकिन अध्यक्ष श्री जनार्दन द्विवेदी इतनी जल्दबाजी में थे कि उन्होंने लोकतांत्रिक भावना को ठोकर मारते हुए जन

सुनवाई नहीं करवाने का फैसला किया। वे इटारसी और दिल्ली की विभिन्न जन सभाओं में पारित ज्ञापन देखकर समझ गए होंगे कि जन सुनवाई का मतलब होगा कि विधेयक की तीखी आलोचना सुनना जिसे संसदीय समिति के रिकार्ड पर लाना ज़रूरी हो जाएगा। वे जानते थे कि जन सुनवाई के बाद आम चुनाव के पहले संप्रग सरकार को शिक्षा के मौलिक अधिकार का ढकोसला करनेवाले विधेयक का तमगा देना नामुमकिन हो जाएगा। इसलिए उन्होंने फैसला किया कि राज्यसभा अध्यक्ष द्वारा दी गई तीन माह की समयसीमा के काफ़ी पहले रपट देने की कार्रवाई हर हाल में निपटा दी जाएगी चाहे ऐसा करने पर लोकतंत्र की कितनी ही अवहेलना क्यों न हो।

शिक्षा अधिकार मंच, भोपाल की ओर से एक बीस सूत्री संशोधन प्रस्ताव बनाकर हम अध्यक्ष श्री जनार्दन द्विवेदी से मिलने 21 जनवरी 2009 को दिल्ली पहुंचे। दो दिन पूर्व ही फोन पर और फैक्स भेजकर उनके दफ्तर से समय ले लिया गया था। प्रतिनिधि मंडल में दिल्ली, कर्नाटक और मेघालय के शिक्षा अधिकार पर सक्रिय समूहों के साथी भी शामिल थे। लेकिन काफ़ी इंतज़ार के बाद श्री जनार्दन द्विवेदी ने मिलने से इंकार कर दिया। बाद में खबर मिली कि महज दो दिन बाद यानी 23 जनवरी को संसदीय समिति की दूसरी और अंतिम बैठक हुई जिसमें केवल मंत्रालय से जुड़े सरकारी अफ़सर बुलाए गए। उस बैठक में अध्यक्ष श्री जनार्दन द्विवेदी ने साफ़ कह दिया कि सरकार विधेयक को इसी रूप में पारित करने का मन बना चुकी है, अतः कोई बड़े संशोधनों के सुझाव न दिए जाएं। कहने की ज़रूरत नहीं कि इसी मानस के चलते श्री द्विवेदी ने हमसे मिलने और हमारा ज्ञापन लेने तक से इंकार कर दिया होगा। 18 फरवरी 2009 को संसदीय समिति की 213वीं रपट राज्यसभा और लोकसभा दोनों को पेश कर दी गई। संसदीय समिति की रपट ने सन् 2004—05 की केब समिति के समय से लेकर अक्तूबर 2007 तक मंत्रालय को प्राप्त दर्जनों ज्ञापनों को सूचिबद्ध करने की औपचारिकता तो निभाई लेकिन विधेयक के बुनियादी चरित्र पर उनमें दर्ज सवालों, सुझावों या संशोधनों को बिना कोई टिप्पणी किए खारिज कर दिया। राज्य सभा में विधेयक पेश होने के बाद जो ज्ञापन आए उनका तो इतना खौफ़ रहा होगा कि उन्हें सूचिबद्ध करने की भी हिम्मत नहीं हुई। इस तरह सरकारी पक्ष का साथ देने के अपने इरादे का न्यायोचितिकरण करने के लिए चंदेक निहायत मामूली से या भटकानेवाले सुझाव देकर 'सफल' लीपापोती

कर दी गई। इसके साथ ही संसद की एक महत्वपूर्ण लोकतांत्रिक प्रक्रिया को निहायत गैर–लोकतांत्रिक ढंग से रफ़ा–दफ़ा कर दिया गया।

उभरती जन चेतना और प्रतिरोध

राज्य सभा में 15 दिसंबर 2008 को विधेयक पेश होने के बाद उसके संविधान–विरोधी और बाल–विरोधी चरित्र में अनेक जनपक्षी संशोधनों की मांग करते हुए और समान स्कूल प्रणाली के खाके में इसे ढालने के लिए जन दबाव बनाते हुए मार्च 2009 के अंत तक समाज के विभिन्न तबकों द्वारा कई जन सभाओं का आयोजन किया गया। इनमें से जिनकी जानकारी उपलब्ध है उन्हें नीचे सूचिबद्ध किया गया है –

राज्यसभा में दिसंबर 2008 में पेश शिक्षा अधिकार विधेयक के विरोध में जन चेतना अभियान

(दिसंबर 2008 – मार्च 2009)

क्र.	तारीख	स्थान	सहभागी	आयोजक
1.	11.01.09	इटारसी, जिला होशंगाबाद, म.प्र.	इटारसी शहर और आसपास के गांवों के समाजकर्मी, शिक्षक, विद्यार्थी और आम नागरिक	समता विचार मंच, इटारसी
2.	21.01.09	जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली	विश्वविद्यालय के शिक्षक, विद्यार्थी व आसपास की बस्तियों के लोग (कुलपति डॉ. मुशीरल हसन द्वारा उद्घाटन भाषण)	विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग व महिला अध्ययन केंद्र के तत्वावधान में
3.	22.01.09	जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	विश्वविद्यालय के शिक्षक एवं विद्यार्थी	ऑल इंडिया स्टूडेंट्स एसोसिएशन ('आईसा')
4.	23.01.09	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	विश्वविद्यालय के शिक्षक, विद्यार्थी एवं कर्मचारी	'आईसा'
5.	24.01.09	भोपाल	भोपाल के बुद्धिजीवी, समाजकर्मी, शिक्षक एवं विद्यार्थी	शिक्षा अधिकार मंच – भोपाल
6.	07.02.09	भोपाल	म. प्र. के जन संगठनों के प्रतिनिधि	म. प्र. जन संघर्ष मोर्चा

तालिका (जारी . . . . .)

क्र.	तारीख	स्थान	सहभागी	आयोजक
7.	14.02.09	भोपाल	भोपाल के आम नागरिक, गैसपीड़ित महिलाएं, बस्तियों के युवा व दो स्थानीय वि.वि. के शिक्षक व विद्यार्थी – रैली व जनसभा जिसके अंत में विधेयक की प्रतियां जलाई गईं	शिक्षा अधिकार मंच, भोपाल
8.	19.02.09	लखनऊ, उ. प्र.	उ. प्र. के 40 जिलों में पंचायतों के साथ काम करने वाले जमीनी कार्यकर्ता	लोकमित्र, रायबरेली
9.	21.02.09	भीलवाड़ा, राजस्थान	राजस्थान के कई जिलों के जमीनी कार्यकर्ताओं के साथ संवाद	मजदूर किसान संघर्ष समिति
10.	28.02.09	मुंबई, महाराष्ट्र	मुंबई के विभिन्न तबकों के लोग – आटो रिक्शा ड्राइवर से लेकर अर्थशास्त्री तक	यूसुफ़ मेहरअली सेंटर एवं आवेही–अबेकस संस्थाएं
11.		03.03.09	विभिन्न तबकों के लोग – महाराष्ट्र के शिक्षा अधिकार के वरिष्ठतम प्रवक्ता डॉ. एन. डी पाटिल की अध्यक्षता में	सत्यशोधक मंडल, कोल्हापुर
12.	04.03.09	पुणे, महाराष्ट्र	समाजकर्मी एवं शिक्षक	अखिल भारतीय समाजवादी अध्यापक सभा, पुणे
13.	28.03.09	ग्राम – तारा, पनवेल, अलीबाग, महाराष्ट्र	सात राज्यों के समाजकर्मियों का उन्मुखीकरण	यूसुफ़ मेहरअली सेंटर
14.	29.03.09	अमरावती, महाराष्ट्र	विदर्भ संभाग के 5 जिलों के शिक्षक	महाराष्ट्र राज्य प्राथमिक शिक्षक समिति
15.	30.03.09	वर्धा, महाराष्ट्र	स्थानीय नागरिक एवं शिक्षक	मगन संग्रहालय व स्थानीय शिक्षक समूह, वर्धा

उपरोक्त जन पहलों के अलावा शिक्षा के मौलिक अधिकार और समान स्कूल प्रणाली के मुद्दों पर इसी दौर में आयोजित निम्नलिखित सेमिनारों में आंध्र प्रदेश, उत्तराखंड, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, मेघालय, मध्य प्रदेश और दिल्ली के इस लड़ाई में जुड़े हुए बुद्धिजीवियों, समाजकर्मियों एवं शिक्षक संगठनों के प्रतिनिधियों ने अकादमिक परचे पेश किए और जनपक्षी विमर्श को आगे बढ़ाया –

शिक्षा के मौलिक अधिकार और समान स्कूल प्रणाली के मुद्दों पर सेमिनार

(दिसंबर 2008 – मार्च 2009)

क्र.	तारीख	स्थान	सहभागी	आयोजक
1.	21–22 फरवरी 09	नई दिल्ली	सुप्रीम कोर्ट व 15 राज्यों के हाई कोर्ट्स के 30 जजों के साथ शिक्षा अधिकार पर ज्युडीश्यल कोलोकियम	ह्यूमन राइट्स लॉ नेटवर्क एवं राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग
2.	24–25 मार्च 09	नई दिल्ली	समान स्कूल प्रणाली पर राष्ट्रीय सेमिनार	नेशनल यूनिवर्सिटी ऑफ़ एज्युकेशनल प्लानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन (न्यूपा), नई दिल्ली

मार्च 2009 के बाद आम चुनावों के मद्देनज़र शिक्षा अधिकार विधेयक और समान स्कूल प्रणाली पर सार्वजनिक बहस और सम्मेलनों का सिलसिला रुका रहा। आम चुनावों के बाद यह सिलसिला फिर शुरू हो गया है। इसमें दो उल्लेखनीय आयोजनों का जिक्र करना उपयोगी होगा। **पहला, नेशनल लीगल सर्विसेज़ ऑथॉरिटी एवं दिल्ली लीगल सर्विसेज़ ऑथॉरिटी के संयुक्त तत्वावधान** में 16 मई 2009 को नई दिल्ली में आयोजित 'शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008 पर राष्ट्रीय सेमिनार' जिसका उद्घाटन सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश श्री के.जी. बालकृष्णन ने किया। **दूसरा,** यूसुफ़ मेहरअली सेंटर और आवेही– अबेकस संस्था के संयुक्त तत्वावधान में 30–31 मई 2009 को मुंबई में आयोजित सम्मेलन। इन दोनों आयोजनों का अलग–अलग दृष्टि से महत्व है। उपरोक्त राष्ट्रीय सेमिनार में सुप्रीम कोर्ट और दिल्ली हाई कोर्ट के कई न्यायाधीशों ने हिस्सा लिया। इनमें से अधिकांश ने 86वें संविधान संशोधन व संविधान के बीच के विरोधाभासों को उजागर किया और अनुच्छेद

21(क) के तहत राज्यसभा में पेश विधेयक की खामियों की ओर इशारा किया। शायद यह पहली बार है कि न्यायाधीशों ने इस विषय पर ऐसे विचार सार्वजनिक तौरपर अभिव्यक्त किए हैं। एक न्यायाधीश ने तो अनुच्छेद 21(क) में डाले गए उस वाक्यांश का भी ज़िक्र किया जो सरकार को मनमानी करने की छूट देता है और क्षोभ के साथ कहा कि इसके चलते 86वें संशोधन ने **"शिक्षा के मौलिक अधिकार को एक साधारण कानूनी अधिकार में तब्दील कर दिया है।"** निःसंदेह, इस राष्ट्रीय सेमिनार में न्यायाधीशों ने विगत दस सालों से शिक्षा के मौलिक अधिकार पर आक्रमण करनेवाले 86वें संशोधन और अनुच्छेद 21(क) के तहत लाए जाने वाले विधेयक का प्रतिरोध कर रहे जन अभियान के नज़रिए की पुष्टि कर दी है।

मुंबई में यूसुफ़ मेहरअली सेंटर और आवेही–अबेकस संस्थाओं द्वारा आयोजित सम्मेलन कोई तदर्थ घटना नहीं थी वरन् एक साल से लगातार चल रही जन प्रक्रिया में एक और कड़ी थी। यह कोई छोटी बात नहीं है कि वैश्विक पूंजी और बाजार के इस प्रतीक महानगर में पिछले साल 31 मई और 1 जून को जो समान स्कूल प्रणाली पर सेमिनार हुआ था, उसके बाद जन पहलों का एक सिलसिला चल निकला। विक्रोली और अंधेरी उपनगरों के दो स्कूलों में अभिभावकों के बड़े सम्मेलन हुए जहां 86वें संशोधन और अनुच्छेद 21(क) के तहत बन रहे विधेयक के जन–विरोधी चरित्र के खिलाफ़ आवज उठी और समान स्कूल प्रणाली के महत्व को समझा गया।

मुंबई महानगर निगम के स्कूल निजी पूंजी व एन.जी.ओ. क्षेत्र को सौंपे जाने एवं सरकारी सहायता प्राप्त निजी स्कूलों द्वारा मनमानी फ़ीस लेने का सवाल भी उठने लगा है। मई 2009 के उक्त सम्मेलन में ट्रेड यूनियनों, महिला संगठनों, शिक्षक संगठनों और सामाजिक आंदोलनों के प्रतिनिधियों के अलावा टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंस के प्रारंभिक शिक्षा पर एम.ए. कर रहे विद्यार्थियों और उनके शिक्षकों ने भी हिस्सा लिया। सम्मेलन में शिक्षा अधिकार मंच, भोपाल और हैदराबाद से आए आंध्र प्रदेश सेव एज्युकेशन कमेटी के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। सम्मेलन ने राज्यसभा में पेश विधेयक की जगह समान स्कूल प्रणाली के खाके में वैकल्पिक विधेयक की मांग करते हुए एक संकल्प पारित किया। मुंबई में इस जन प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए एक तदर्थ समिति का गठन हुआ। सम्मेलन के अंत में एक रैली निकली जो ग्रांट रोड स्टेशन के रेल कामगार भवन से मणि भवन के गांधी स्मारक तक

गई। वहां महात्मा गांधी की मूर्ति के सामने भारत की शिक्षा पर वैश्विक पूंजी द्वारा हो रहे आक्रमण को रोकने और संविधान पर आधारित शिक्षा व्यवस्था स्थापित करने का संकल्प लिया गया। यह दीगर बात है कि इस जन पहल पर वैश्विक बाजार के हित में काम कर रहे मीडिया ने कोई ध्यान नहीं दिया। मीडिया के इस रुख पर कोई अचरज भी नहीं होना चाहिए। जाहिर है कि सरकार और मीडिया तभी जागेंगे जब यह छोटा सी जन पहल एक जन आंदोलन का रूप ले लेगी।

इसी क्रम में आंध्र प्रदेश सेव एज्युकेशन कमेटी की पहल पर 21–22 जून 2009 को उपरोक्त मुद्दों पर हैदराबाद में एक राष्ट्रीय स्तर के सलाह–मशविरे का आयोजन किया जा रहा है जहां शिक्षा के मौलिक अधिकार एवं समान स्कूल प्रणाली पर अखिल–भारतीय स्तर का अभियान विकसित करने की संभावना व तौर–तरीकों पर विचार होगा।

यह प्रक्रिया हर हाल आगे बढ़ेगी। इसका सबूत है कि उत्तराखंड के चेतना आंदोलन और महिला समाख्या की ओर से 18–19 जुलाई 2009 को इसी विषय पर देहरादून में राज्य–स्तरीय जन सम्मेलन आयोजित किया जा रहा है। उसके बाद 9 अगस्त 2009 (भारत छोड़ो दिवस) को शिक्षा अधिकार मंच, भोपाल की ओर से मध्य प्रदेश में राज्य–स्तरीय जन सम्मेलन आहूत किया जाएगा।

यह संक्षिप्त कहानी है उस जन अभियान की जिसने बंद सरकारी कमरों में शिक्षा के मौलिक अधिकार के सवाल पर चल रही वैश्विक पूंजी की साजिश पर से परदा हटा दिया है और इस लड़ाई को सड़कों और गली–कूचों पर उतारने के लिए आवश्यक जमीन तैयार कर दी है। अब इस लड़ाई को एक जन आंदोलन का रूप लेना है।■

दस्तावेज

भाग एक – आलेख

1. शिक्षा का हक छीनने वाला संवैधानिक संशोधन
   (राष्ट्रीय सहारा, 28 नवंबर 2001)
2. बाजार और सांप्रदायिकता के बीच फंसी शिक्षा
   राजनीतिक दलों और एन.जी.ओ. की भूमिका पर सवाल
   (राष्ट्रीय सहारा, 8 दिसंबर 2001)

भाग दो – शिक्षा अधिकार अधिकार मंच, भोपाल

3. भोपाल में आयोजित जन सभा (14 जनवरी 2009) में पारित संकल्प
4. भोपाल में निकली रैली (14 जनवरी 2009) का हैंडबिल

शिक्षा का हक छीनने वाला संवैधानिक संशोधन

यह आलेख उसी दिन राष्ट्रीय सहारा (28 नवंबर 2001) के संपादकीय पृष्ठ पर प्रकाशित हुआ जिस दिन 93वां (अब 86वां) संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में पेश हुआ और सर्वसम्मति से पारित भी हुआ। इसी आशय से अंग्रेजी में लिखा आलेख उसी दिन टाईम्स ऑफ़ इंडिया में भी संपादकीय पृष्ठ प्रकाशित हुआ। उम्मीद यह थी कि इतने प्रखर विश्लेषण और बिना किसी लाग–लपेट के दी गई चेतावनी का कुछ तो असर सांसदों पर पड़ेगा। इसके बावजूद इस विधेयक के खिलाफ़ एक भी मत नहीं पड़ा जबकि मतदान के पहले सभी प्रमुख विपक्षी दलों (कांग्रेस और वाम दलों समेत) के नेतृत्व से मिलकर प्रस्तावित संविधान संशोधन से शिक्षा के मौलिक अधिकार को होने वाले नुकसान के बारे में शोध–आधारित और तथ्यात्मक लिखित दस्तावेज सौंप दिए थे। पूरे विवरण और राजनीतिक–आर्थिक व्याख्या के लिए देखिए खंड तीन (पृष्ठ 87–94)।

कल्पना कीजिए कि एक गरीब महिला उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय को अपनी याचिका में बताती है कि उसकी बस्ती के आसपास कहीं भी सरकार ने कोई ऐसी निःशुल्क सुविधा उपलब्ध नहीं कराई है, जहां उसके तीन वर्षीय बच्चे को पर्याप्त देखभाल, आहार और पूर्व प्राथमिक शिक्षा मिल सके। ऐसी समुचित शिशु देखभाल एवं शिक्षा का वादा राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 (1992 में संशोधित) ने किया था। वह महिला यह तर्क पेश करती है कि इंसान का 80 प्रतिशत मस्तिष्क तीन वर्ष की उम्र तक विकसित हो जाता है और खेलकूद की पद्धति से दी जानेवाली नर्सरी या पूर्व प्राथमिक शिक्षा बच्चों को प्राथमिक और उत्तर प्राथमिक (यानी प्रारंभिक) शिक्षा हेतु तैयार करने के लिए आवश्यक है। यदि न्यायालय के सामने आज ऐसी याचिका आती है तो यह काफी संभावना है कि संबंधित राज्य सरकार को यह आदेश दिया जाएगा कि उस महिला के बच्चे को ऐसी सुविधा तत्काल उपलब्ध करायी जाए। बच्चों के पक्ष में ऐसे आदेश का आधार सन् 1993 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उन्नीकृष्णन बनाम आंध्र प्रदेश सरकार के मामले में दिया गया वह ऐतिहासिक फैसला है, जिसके तहत कहा गया था कि संविधान के खंड चार के अनुच्छेद 45 को खंड तीन के अनुच्छेद 21 (जीने का हक) के साथ जोड़कर पढ़ा जाना चाहिए। इस फैसले के बाद से 14 वर्ष की उम्र तक के

सभी बच्चों को (जिसमें विकलांग बच्चे भी शामिल हैं) शिक्षा का मौलिक अधिकार मिल चुका है।

लेकिन यदि संसद के वर्तमान सत्र में 93वां संविधान संशोधन विधेयक पारित हो गया तो उक्त महिला को अपने बच्चे के लिए शिशु देखभाल एवं पूर्व प्राथमिक शिक्षा की सुविधाएं नहीं मिल पाएंगी। यह विधेयक प्रस्तावित करता है कि शिक्षा का बुनियादी हक केवल 6–14 वर्ष के आयु समूह के बच्चों को ही मिले। इसके मायने है कि 0–6 वर्ष के आयु समूह (यानी जन्म से 6 वर्ष तक) में आने वाले लगभग 16 करोड़ बच्चे (जनगणना–2001 के अनुसार) शिक्षा का बुनियादी हक खो देंगे जो उन्हें सर्वोच्च न्यायालय ने सन् 1993 में दिया था। इसका यह भी अर्थ है कि यह प्रस्तावित विधेयक अधिकांश गरीब लड़कियों की शिक्षा का घोर विरोधी है, क्योंकि ये लड़कियां अक्सर अपने छोटे भाई–बहनों की देखभाल में लगी होने के कारण स्कूल नहीं जा पातीं। यदि हर प्राथमिक शाला के साथ आंगनवाड़ी और पूर्व प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध होगी तभी गरीब लड़कियों को स्कूल जाने का हक मिल पाएगा। प्रस्तावित विधेयक यह हक देता नहीं, बल्कि छीनता है। क्या यही एक महत्वपूर्ण कारण है कि राजग (राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन) सरकार ने संसद में यह विधेयक पेश किया, ताकि इसके जरिये उन्नीकृष्णन मामले में दिये गये फैसले से उभरने वाली संवैधानिक जवाबदेही को कम किया जा सके?

आइए, अब हम एक और गरीब महिला की बात करें, जिसने न्यायालय से यह अपील की है कि सरकार को आदेशित किया जाए कि उसके बच्चे को ऐसा प्राथमिक स्कूल उपलब्ध कराया जाए, जहां वास्तव में पढ़ाई होती है और बच्चे सीखते हैं। वह महिला यह दलील पेश करती है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति की 'ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड योजना' के अनुसार उक्त प्राथमिक स्कूल में कम–से–कम तीन शिक्षक और तीन बड़े कमरे हों। इसके अलावा इसी योजना के अनुसार स्कूल में शैक्षिक साधन और पुस्तकालय भी हों। इस याचिका के जवाब में सरकार न्यायालय में इस बच्चे की शिक्षा की सुविधाएं देने का वादा तो कर देगी, लेकिन यह भी कहेगी कि यह सुविधा उस प्राथमिक स्कूल की नहीं होगी, जिसका उल्लेख शिक्षा नीति की 'ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड योजना' में किया गया है। इसकी जगह सरकार उस बच्चे के लिए अनौपचारिक (नॉन फार्मल) शिक्षा केंद्र खोलेगी या उसको प्रौढ़ साक्षरता की कक्षाओं में शामिल कर लेगी या फिर उसे शिक्षा गारंटी स्कीम के तहत

सुविधा दी जाएगी जिसमें नियमित शिक्षक की जगह एक 'पैरा–शिक्षक' नियुक्त किया जाएगा। कई राज्यों में कुछ वर्षों से चल रही इस पैरा–शिक्षक योजना के तहत एक ऐसे युवा को नियुक्त किया जाता है, जिसकी शिक्षक बनने की न तो न्यूनतम अर्हता होती है और न ही उसे कोई प्रशिक्षण मिला होता है। ऐसे युवा को लगभग पांच सौ रुपए के माहवार ठेके पर नियुक्त किया जाता है। इससे भी कहीं अधिक खतरनाक संभावना तो यह है कि सरकार हमेशा की तरह संसाधनों की कमी का बहाना कर न्यायालय को यह सूचित करे कि वह राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी) द्वारा नवम्बर 2000 में प्रस्तावित योजना को अमल में लाएगी। इस प्रस्ताव के अनुसार 6–14 वर्ष आयु समूह के बच्चों को पत्राचार के माध्यम से शिक्षित किया जाएगा। यानी पैरा–शिक्षक भी नियुक्त नहीं किया जाएगा। मात्र डाकिए के ज़रिए काम चल जाएगा। यदि सरकार ऐसी दलील पेश करती है तो आज यह संभावना है कि न्यायालय सरकार के इन सस्ते और घटिया गुणवत्तावाले प्रस्तावों को रद्द कर देगा चूंकि इनसे संविधान में प्रदत्त समता और न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन होता है।

न्यायालय का यह मत तब भी होता यदि जुलाई 1997 में राज्यसभा में पेश 83वां संशोधन विधेयक संसद में पारित हो जाता। लेकिन 93वें संशोधन विधेयक के पारित होने के बाद न्यायालय द्वारा बच्चों के पक्ष में ऐसा फैसला देना संभव नहीं रहेगा। इसका कारण है कि इस नये विधेयक में 83वें संशोधन विधेयक में प्रस्तावित अनुच्छेद 21(क) में बहुत चतुराई से कुछ शब्द जोड़ दिए गए हैं। पुराने विधेयक ने अनुच्छेद 21(क) में 6–14 आयु समूह के बच्चों को शिक्षा का मौलिक अधिकार बिना किसी शर्त के दिया था। इसकी जगह नया विधेयक इस हक को देते हुए एक शर्त जोड़ता है जिसके अनुसार यह हक उस रीति से दिया जाएगा जिसे राज्य कानूनन तय करेगा। इस शर्त को बुनियादी हक में जोड़ने के प्रस्ताव को कोई मामूली बात समझकर नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता। चूंकि विगत कुछ वर्षों में सरकार ने यह नीति स्थापित कर दी है कि गरीब बच्चों को स्कूल के समानांतर विभिन्न प्रकार की सुविधाएं देकर स्कूल की अवधारणा को ही हाशिए पर धकेल दिया जाए। कोठारी शिक्षा आयोग (1964–66) ने एक समान स्कूल प्रणाली स्थापित करने की पैरवी की थी। इस अवधारणा को सन् 1968 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में शामिल किया गया और एक बार फिर सन् 1986 की दूसरी शिक्षा नीति और उसके सन् 1992 के संशोधित स्वरूप

में भी। सन् 1986 एवं 1992 की इन नीतियों को संसद की स्वीकृति भी मिली, लेकिन नौवें दशक में विभिन्न सरकारों ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष एवं विश्व बैंक द्वारा थोपी गई संरचनात्मक समायोजन की योजना के तहत समान स्कूल प्रणाली के विचार को तिलांजली दे दी और साथ में इससे उभरने वाली पड़ोसी स्कूल की अवधारणा को भी। शिक्षा नीति में इस महत्वपूर्ण परिवर्तन के लिए संसद की स्वीकृति लेने की जरूरत तक नहीं समझी गयी। आज जो नीति हावी है उसके अनुसार समाज के विभिन्न गरीब तबकों के लिए सस्ती और घटिया गुणवत्तावाली कई समानांतर धाराओं में शिक्षा दी जा रही है। यह नीति कहती है कि शिक्षा के नाम पर नये–नये लुभावने लेबल लगाकर गरीब बच्चों को पढ़ाने का कोई भी ढोंग किया जा सकता है, लेकिन अच्छा स्कूल नहीं दिया जाएगा।

83वें संशोधन विधेयक में भी अनुच्छेद 21(क) के तहत एक दूसरा उप–अनुच्छेद था, जिसमें बुनियादी हक को लागू करने का प्रावधान था, जिसके साथ वह शर्त जोड़ी गयी थी जो अब नये विधेयक के अनुच्छेद 21(क) के मुख्य अनुच्छेद में जोड़ दी गयी है, जहां निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रावधान है। यानी शब्दों के इस हेरफेर से जो शर्त बुनियादी हक को 'लागू करने' के साथ जुड़ी थी, वह अब 'शिक्षा के प्रावधान' और उसकी अवधारणा को ही सीमित करने लगी है। इसका अर्थ है कि 93वां संशोधन विधेयक 6–14 वर्ष आयु समूह के संदर्भ में सरकार को यह गुंजाइश देता है कि वह न्यूनतम गुणवत्ता सुनिश्चित करने की अपनी संवैधानिक जवाबदेही से ही मुक्त हो जाए। यानी नया विधेयक, 83वें संशोधन विधेयक में निहित इस जवाबदेही को ही कम कर देता है। यह तर्क हमें यह समझने में भी मदद करता है कि सरकार ने 83वें संशोधन विधेयक को चार साल तक क्यों आगे नहीं बढ़ाया और जब इस ओर कदम बढ़ाया तो उसकी जगह शब्दों की हेरफेर के साथ यह नया विधेयक पेश किया है।

यदि मां–बाप अपने बच्चों की शिक्षा का हक मांगने के लिए न्यायालय जाते हैं तो इस नये विधेयक के तहत और एक खतरा पैदा हो गया है। अब संभावना है कि न्यायालय याचिका दायर करने वाले मां–बाप को ही आदेशित कर दे कि वे स्वयं के संसाधनों में से अपने बच्चों को शिक्षा की सुविधाएं दें और यदि वे ऐसा नहीं कर पाए तो उन्हें 93वें संशोधन विधेयक के अनुसार राज्य सरकारों द्वारा बनाए गए नये कानून में सजा दी जा सकती है। ऐसा आदेश देने के लिए न्यायालय मजबूर होगा, क्योंकि यह

विधेयक अनुच्छेद 51(क) में एक और उप–अनुच्छेद जोड़कर 'शिक्षा के अवसर प्रदान करना मां–बाप का मौलिक कर्त्तव्य' बना देता है। इस प्रावधान की न्यायालय में यही व्याख्या होगी कि शिक्षा के अवसर प्रदान करना राज्य के लिए बाध्यकारी नहीं है, बल्कि मां–बाप का मौलिक कर्त्तव्य है। शिक्षा की जवाबदेही को धीरे–धीरे सरकारी जवाबदेही के दायरे में से खिसका कर गरीब बच्चों के मां–बाप पर थोपने की नींव इस विधेयक के जरिए डाली जा रही है।

जब कभी शिक्षा को बुनियादी हक का दर्जा देने की बात उठायी गयी तब विभिन्न सरकारों ने संसाधनों की कमी की दुहाई दी। पिछले दशक में पहली बार भारत की स्कूली शिक्षा के लिए वैश्वीकरण की नीतियों के तहत विश्व बैंक से कर्ज लिया गया। यह कर्ज कितना बड़ा था? स्कूली शिक्षा पर केंद्रीय व राज्य सरकारें कुल जितना खर्च करती हैं, विश्व बैंक से लिया गया कर्ज मात्र उसका चार प्रतिशत बनता है। जो सरकार हर वर्ष अपनी अर्थव्यवस्था में से इतनी छोटी अतिरिक्त राशि भी निकालने को तैयार नहीं है और इसके लिए देश के बच्चों का भविष्य विश्व बैंक के नियंत्रण में रखने को तैयार है, वह सरकार जब शिक्षा को बुनियादी हक बनाने का प्रस्ताव लाती है तो स्वाभाविक रूप से उसकी मंशा पर संदेह पैदा होता है। सन् 1999 में केंद्रीय सरकार द्वारा गठित तपस मजूमदार समिति ने यह अनुमान लगाया कि यदि 6–14 वर्ष आयु समूह के जो आधे बच्चे आज स्कूल से बाहर हैं; उन्हें स्कूल में लाने के लिए कितना खर्च होगा। इस रपट के अनुसार सभी बच्चों को स्कूल की सुविधा देने के लिए अगले दस वर्षों में कुल मिलाकर 1 लाख 37 हजार करोड़ रुपए अतिरिक्त लगाने होंगे। इसका अर्थ है कि प्रतिवर्ष औसतन इस मद में जो भी खर्च हो रहा है उसके अतिरिक्त 14,000 करोड़ रुपए लगाने होंगे। भारत जैसे विशाल देश के लिए यह राशि कितनी बड़ी है? हमारे सकल राष्ट्रीय उत्पाद का यह राशि प्रतिवर्ष मात्र 0.78 प्रतिशत यानी एक प्रतिशत से भी कम है।

जो विधेयक लोकसभा में पेश किया गया है उसमें 6–14 वर्ष आयु समूह के बच्चों को शिक्षा का हक देने हेतु केंद्र के संपूर्ण वित्तीय भार के रूप में अगले दस साल तक 9800 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष लगाने का प्रस्ताव है। इसका अर्थ हुआ कि तपस मजूमदार समिति के अनुसार इस हेतु जितनी राशि लगानी आवश्यक है उसके आधे से भी कम राशि सरकार खर्च करेगी। वर्तमान वित्तीय वर्ष में सरकार ने प्रारंभिक शिक्षा के मद में 3800 करोड़ रुपए का

प्रावधान पहले से ही कर रखा है। यानी सरकार मात्र 6000 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष अतिरिक्त लगाएगी, जो कि सकल राष्ट्रीय उत्पाद का केवल 0.35 प्रतिशत हुआ। जो सरकार न्यूनतम अतिरिक्त निवेश करने से भी कतरा रही है उसके द्वारा प्रस्तावित इस नये विधेयक पर कौन विश्वास कर सकता है?

यह विडंबना है कि किसी भी सरकार ने आज तक 0–6 वर्ष आयु समूह के बच्चों के लिए शिशु देखभाल एवं पूर्व प्राथमिक शिक्षा हेतु आवश्यक राशि का कोई आधिकारिक अनुमान पेश नहीं किया है। एक ऐसा अनुमान आचार्य राममूर्ति समिति (1990) ने प्रस्तुत किया था लेकिन सरकार ने उस पर विचार करने से भी इंकार कर दिया। यह स्पष्ट है कि 93वां संशोधन विधेयक अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक के संरचनात्मक समायोजन के आदेशों को पूरा करने के लिए बनाया गया है। इसका उद्देश्य कुल मिलाकर यह है कि उन्नीकृष्णन् फैसले के तहत जो बुनियादी हक बच्चों को मिल चुका है उसे छीन लिया जाए ताकि सरकार की संवैधानिक जवाबदेही कम हो जाए। सौभाग्य से इस विधेयक के छिपे हुए एजेंडे को गरीब जनता समझने लगी है और विधेयक को दोबारा लिखने की पुरजोर मांग कर रही है। सवाल केवल इतना है कि क्या भारत के राजनीतिक दल और शिक्षित समाज गरीब जनता में आए इस ऐतिहासिक उभार को समर्थन दे पाएंगे।■

बाजार और सांप्रदायिकता के बीच फंसी शिक्षा – राजनीतिक दलों और एन.जी.ओ. की भूमिका पर सवाल[28]

संबंधित विवरण और राजनीतिक–आर्थिक व्याख्या के लिए
देखिए खंड तीन (पृष्ठ 87–95)

विगत 28 नवम्बर (2001) को दिल्ली में दो ऐतिहासिक घटनाएं एक साथ घट रही थीं। पहली, लोक सभा में 93वें संविधान संशोधन विधेयक पर गर्मागर्म बहस हो रही थी, जिसके ज़रिए सरकार संविधान में शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा देने का दावा कर रही थी। विपक्ष के तीन सांसदों ने विधेयक में महत्वपूर्ण परिवर्तन के अलग–अलग प्रस्ताव दिए थे ताकि 18 वर्ष की उम्र तक के सभी बच्चों को (जिसमें विकलांग बच्चे भी शामिल हैं) समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा का हक मिल सके। दूसरी घटना यह थी कि उसी दिन दिल्ली के रामलीला मैदान मे 'शिक्षा सत्याग्रह' हो रहा था, जिसके लिए विभिन्न प्रदेशों से लगभग 40 हजार गरीब महिला–पुरुष इकट्ठे हुए थे। इन लोगों को इकट्ठा करने का काम 'नेशनल एलायंस फ़ॉर फ़ंडामेंटल राइट टू एजुकेशन' (नेफ्रे) ने किया था, जिसके पीछे प्रमुखतः 'क्राई' नामक वित्तपोषक एजेंसी है। रामलीला मैदान की सभा और बाद में निकाली गयी रैली में पुरजोर मांग उठ रही थी कि लोकसभा में पेश किए गए 93वें संशोधन विधेयक को दोबारा लिखा जाए चूंकि यह शिक्षा का हक देता नहीं, बल्कि छीनता है। सबको पता था कि जो मौलिक अधिकार सन् 1993 में सुप्रीम कोर्ट ने उन्नीकृष्णन फैसले के द्वारा दे दिया था, उसे यह विधेयक छीन रहा है। यह भी मांग उठी कि 14 वर्ष की आयु सीमा को बढ़ाकर 18 वर्ष कर देनी चाहिए ताकि हर बच्चे को 12वीं कक्षा तक पढ़ने का हक मिल जाए। रैली की मांग थी कि सभी बच्चों को बिना किसी भेदभाव के समतामूलक गुणवत्ता वाली शिक्षा देने के लिए कोठारी शिक्षा आयोग द्वारा अनुशंसित समान स्कूल प्रणाली स्थापित की जाए।

'नेफ्रे' संगठन ने लोगों को इकट्ठा करने के दौरान गांव–गांव में यह संदेश फैलाया था कि यदि सरकार ने इस विधेयक को दोबारा लिखकर इसकी

---

[28]राष्ट्रीय सहारा (8 दिसंबर, 2001) में 'इस शिक्षा नीति का राजनीतिक अर्थशास्त्र' शीर्षक से प्रकाशित।

खामियां दूर करने की मांग नहीं मानी तो 10,000 लोग वहीं आमरण अनशन पर बैठ जाएंगे और सरकार को बाध्य करेंगे। लेकिन संसद में विधेयक पर अभी बहस चल ही रही थी कि 'नेफ्रे' के नेतृत्व ने एकाएक रैली व सभा खत्म करने की घोषणा कर दी। हजारों लोग आमरण अनशन की घोषणा का इंतजार करते रहे लेकिन चुप्पी साध ली गयी। लोगों को लगा कि उनके साथ कोई धोखा हुआ है।

उधर लोकसभा में विपक्षी दलों ने विधेयक पर अपनी आपत्तियां दर्ज कीं और जोश भरे भाषण दिए। विपक्ष की नेता श्रीमती सोनिया गांधी ने भी विधेयक में आवश्यक सुधार की मांग की। लेकिन अंत में एक–एक करके विपक्षी दलों और सांसदों ने सरकार का साथ दिया। विधेयक सर्वसम्मति से पारित हो गया। छह वर्ष से कम उम्र के 16 करोड़ बच्चों से लोकसभा ने वह हक छीन लिया जो उन्हें उन्नीकृष्णन फैसले (1993) के तहत मिल चुका था। अट्ठारह वर्ष तक शिक्षा का हक देने की बात पूर्णतः नजरअंदाज कर दी गयी। सब बच्चों को समान गुणवत्ता की शिक्षा देने की बात भी धरी की धरी रह गयी। उल्टे वह सरकारी प्रावधान (नया अनुच्छेद 21(क)) भी स्वीकृत हो गया, जिसके तहत गरीब बच्चों को सर्व शिक्षा अभियान के दौरान स्कूल के स्थान पर सस्ती और घटिया गुणवत्ता वाली शिक्षा दी जा सकेगी। इसके साथ–साथ शिक्षा देने की सरकार की संवैधानिक जवाबदेही को नया अनुच्छेद 51(क) जोड़कर चतुराई से खिसकाते हुए मौलिक कर्त्तव्य के नाम पर मां–बाप के सिर पर मढ़ दिया गया।

रामलीला मैदान में 'नेफ्रे' के नेतृत्व का आमरण अनशन के संकल्प से पीछे हटना और लोकसभा में समूचे विपक्ष द्वारा आपत्तियों को वापस लेकर विधेयक को पारित करवा देना देखने में दो अलग–अलग घटनाएं जरूर लगती हैं लेकिन इनके बीच एक सूत्र भी है। इस अदृश्य सूत्र को देखने के लिए मानव संसाधन विकास मंत्री द्वारा लोक सभा में विधेयक को प्रस्तुत करते हुए दिया गया भाषण मददगार होगा। मंत्री जी ने उस दिन यह स्वीकारा कि यदि 6 वर्ष तक के बच्चों की देखभाल और शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं की गयी तो 'शिक्षा का पूरा महत्व हम स्थापित नहीं कर पाएंगे'। लेकिन आगे उन्होंने यह भी कह दिया कि इसकी व्यवस्था करना सरकार के लिए संभव नहीं हैं। फिर उन्होंने एक और विरोधाभासी बयान दिया कि इस आयु समूह पर पूरा ध्यान दिया जाएगा। शायद उन्होंने इसी

विरोधाभास को दूर करने की कोशिश में 'स्वयंसेवी संस्थाओं', कॉरपोरेट घरानों से आग्रह किया कि वे इस क्षेत्र में सरकार की मदद करें। यानी 6 वर्ष के बच्चों के प्रति सरकारी जवाबदेही को निजी क्षेत्र को सौपने की पूरी तैयारी है। ठीक वैश्वीकरण की तर्ज पर। आगे मंत्री जी यह भी कहते हैं कि 'स्कूलों में गुणवत्ता का भी पूरा ध्यान' रखा जाएगा। लेकिन उन्होंने लोकसभा को यह नहीं बताया कि सर्व शिक्षा अभियान में सब बच्चों को स्कूल देने की योजना तक नहीं है। इस अभियान में गरीब बच्चों को अनौपचारिक केंद्र, वैकल्पिक स्कूल और शिक्षा गारंटी स्कीम आदि लुभावने नामों की सुविधाएं दी जाएंगी, लेकिन स्कूल नहीं दिया जाएगा। इन 'सुविधाओं' में पैरा–शिक्षक नियुक्त किए जाएंगे जिनके पास न तो शिक्षक बनने की अर्हताएं होंगी और न ही प्रशिक्षण। इनको 400–500 रुपए माहवार ठेके पर रखा जाएगा। कहीं यह घटिया शिक्षा भी सरकार के लिए भारी न हो जाए, अतः एन.सी.ई.आर. टी. का कहना है कि 6–14 वर्ष आयु समूह को पत्राचार के ज़रिए शिक्षित किया जाएगा, यानी महज डाकिये के ज़रिए।

इस शिक्षायी ढोंग के बावजूद विधेयक पारित होने के मायने हैं कि राजग सरकार और विपक्ष के तमाम राजनीतिक दलों और गैर–सरकारी एजेंसियों के बीच एक अघोषित सहमति बन चुकी है। 'नेफ्रे' और उसकी समर्थक 'क्राई' जैसी वित्त पोषक एजेंसियों के लिए मंत्री जी ने आकर्षक जाल फेंका है। उन्होंने 6 वर्ष तक के बच्चों की देखरेख व पूर्व प्राथमिक शिक्षा एवं सर्व शिक्षा अभियान के तहत 6–14 वर्ष आयु समूह के लिए विभिन्न सस्ती व घटिया शैक्षिक धाराओं की जिम्मेदारी संभालने हेतु निजी संस्थाओं को खुला आमंत्रण दिया है। ऐसे सरकारी आमंत्रणों को जो गैर–सरकारी संगठन स्वीकारेंगे, उनको सरकारी कार्यक्रम में समाहित करने के लिए 'यूनिसेफ' व अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्त पोषक एजेंसियों के दरवाजे खोल दिए जाएंगे। इस प्रकार ये गैर–सरकारी एजेंसियां भारत में वैश्वीकरण के एजेंडे का वैधानीकरण करने में मुख्य भूमिका निभाएंगी।

तीन वर्षों से भाजपा नीत सरकार द्वारा बढ़ते क्रम में शिक्षा पर किए जा रहे सांप्रदायीकरण के आक्रमण को भी इसी नीति के एक हिस्से के रूप में देखने की जरूरत है। शिक्षा के सांप्रदायीकरण के कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य भारतीय समाज पर ब्राह्मणवादी और पुरुषवादी विचारधारा का वर्चस्व स्थापित करना है। हाल में डॉ. जोशी ने शिक्षा के सांप्रदायीकरण की अपनी नीति को

संघ परिवार की 'विद्या भारती' द्वारा शिक्षा के भारतीयकरण के नाम पर आयोजित सम्मेलन में प्रस्तुत किया और स्वीकृत करवाया। 'विद्या भारती' का 'भारतीयकरण' से क्या आशय है, इसे उनके द्वारा प्रकाशित 'संस्कृत ज्ञान परीक्षा' सीरीज़ की पुस्तिकाओं में देखा जा सकता है, जिनमें राष्ट्रभक्ति को हिन्दुत्व का पर्याय बनाने की गैर–संवैधानिक और राष्ट्र विरोधी कुचेष्टा हो रही है। याद रहे कि हिंदुत्ववाद केवल धार्मिक कट्टरवाद का एक संकीर्ण नज़रिया है – इसका हिंदू धर्म के दर्शन से कोई लेना–देना नहीं है। अक्टूबर 1998 में सरकार द्वारा आयोजित सभी राज्यों के शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन में 'विद्या भारती' द्वारा प्रस्तुत दस्तावेज में शिक्षा के 'भारतीयकरण, राष्ट्रीयकरण एवं आध्यात्मीकरण' का कार्यक्रम था। लेकिन देश की जनता ने समझ लिया कि संघ परिवार जब 'भारतीयकरण' कहता है तो उसका अर्थ हैं 'हिन्दुत्ववादीकरण' जब वह 'राष्ट्रीयकरण' कहता है तो उसका आशय है 'ब्राह्मणवादीकरण' और जब 'आध्यात्मीकरण' की बात की जाती हे तो उसका आशय गैर–बराबरी, दमन और शोषण जैसी सामाजिक सच्चाइयों पर पर्दा डालने वाले पाठ्यक्रम बनाने से होता है ताकि 'पलायनवादीकरण' की सोच शिक्षा पर हावी हो जाए। यही असली निहितार्थ है संघ परिवार के 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' का।

सरकार की इस नयी नीति का सारतत्व है 'हिन्दुत्ववाद, ब्राह्मणवाद और पलायनवाद' के तीन सिद्धांतों के आधार पर बनाया जा रहा पाठ्यक्रम। इस विचारधारा के लिए आवश्यक है कि गैर–तार्किक प्रक्रियाओं को बढ़ावा दिया जाए और वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ तथा समीक्षात्मक सोच को दबाया जाए। इसीलिए सरकार ने कर्मकांड और ज्योतिर्विज्ञान जैसे गैर–वैज्ञानिक विषयों को उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में डलवाया है। इन विषयों के ज़रिए गरीब व शोषित तबकों को नियतिवाद की ओर धकेला जाएगा ताकि वे समाज का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण न करें।

केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने विगत अक्टूबर में एन.सी.ई.आर.टी. के निर्देशों का पालन करते हुए छठी, आठवीं और ग्यारहवीं कक्षाओं की इतिहास की पाठ्य पुस्तकों से कई अंश निकलवा दिए हैं। इन अंशों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सरकार ऐतिहासिक शोध की व्यापक अकादमिक मान्यता प्राप्त वैज्ञानिक व वस्तुनिष्ठ पद्धति को ही खत्म करने की कोशिश कर रही है। संघ परिवार की पद्धति को थोपना चाह रही है जिसमें

पुरातत्वशास्त्रीय खोजों, मूल पांडुलिपियों, समाजशास्त्रीय व आर्थिक आंकड़ों एवं अन्य दस्तावेजी साक्ष्यों का कोई महत्व नहीं रह जाएगा। एन.सी.ई.आर.टी. पिछले कुछ सप्ताहों से इतिहास लेखन की जिस नयी पद्धति को प्रतिपादित कर रही है उसमें दो बुनियादी तत्व पहचाने जा सकते हैं। पहला, ऐतिहासिक तथ्य वही माना जाएगा जिसे विभिन्न संप्रदायों के स्थापित नेतृत्व की स्वीकृति मिल जाए। दूसरा, ब्राह्मणवादी और पुरुषवादी वर्चस्व (यानी हिन्दुत्ववादी एकल–संस्कृति) को बरकरार रखने के लिए जो भी मिथक, कल्पनाएं या प्रसंग सुविधाजनक होंगे उन्हें इतिहास के रूप में पेश कर दिया जाएगा। जिस संप्रदाय का जितना अधिक महत्व चुनाव जीतने की दृष्टि से होगा, उसके स्थापित नेतृत्व की स्वीकृति को उसी अनुपात में महत्व दिया जाएगा। इतिहास लेखन के इस नये सिद्धांत को उत्तर प्रदेश के आगामी चुनाव की रणनीति का आधार बनाने की तैयारी हुई है। शायद इसीलिए दिल्ली राज्य की कांग्रेसी सरकार ने भी गुरु तेगबहादुर के ऐतिहासिक अंश पर प्रतिबंध लगा दिया।

इस उभरती हुई नयी शिक्षा नीति का लब्बोलुआब भारत में ऐसे भावी समाज का निर्माण करना है जिसमें देश के आधे से अधिक बच्चे कक्षा आठ तक ही पढ़ पाएंगे और उन्हें मात्र साक्षर बनाया जाएगा ताकि वे बाजार में बिकने वाले उत्पादों के विज्ञापन व लेबल समझ सकें – यानी वैश्वीकृत बाजार के उपभोक्ता बन सकें। लगभग 30 प्रतिशत बच्चों को दसवीं–बारहवीं कक्षा तक शिक्षित किया जाएगा और उन्हें कारखानों में निचले दर्जे के तकनीशियन बनाने के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाएगा। बमुश्किल 10–15 प्रतिशत बच्चों को उच्च शिक्षा की सुविधा मिलेगी, जिनका एक अंश सूचना प्रौद्योगिकी का शिक्षण पाकर वैश्वीकृत विशाल कॉरपोरेट घरानों में ज्ञान सृजन करके यूरोप व अमरीका पलायन कर जाएगा।

भारत की शेष अधिसंख्यक जनता भारतीय मूल के इस वैश्वीकृत अभिजात तबके (भारत का बमुश्किल 5 प्रतिशत) द्वारा पैदा किए गए ज्ञान को न केवल खरीदेगी, बल्कि इस तबके की शिक्षा की भी कीमत चुकाएगी। इसी अधिसंख्यक जनता के मानस को नियंत्रण में रखने के लिए तथाकथित देशप्रेम व मूल्यों की शिक्षा की बात होगी, जिसे अन्य सभी संस्कृतियों पर वर्चस्व स्थापित करने वाली हिन्दुत्ववादी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में दिया जाएगा। ऐसी ही शिक्षा की नींव डालने के लिए गैर–तार्किक, गैर–वैज्ञानिक

और प्रश्नों व असहमति को दबाने वाला पाठ्यक्रम एन.सी.ई.आर.टी. के रहस्यमयी तहखानों में आजकल रचा जा रहा है।

यह समझने की जरूरत है कि वैश्वीकरण और सांप्रदायिक कट्टरवादीकरण एक–दूसरे की समर्थक व पूरक विचारधाराएं हैं। वैश्वीकरण की ताकतों को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि कट्टरवाद किस धर्म या संप्रदाय का है। ये ताकतें हर धर्म के कट्टरवाद के साथ हाथ मिलाने को तैयार हैं, बशर्ते उनके बाजारों को स्थिरता मिले। वैश्वीकरण और कट्टरवाद के इस संयुक्त एजेंडे पर विभिन्न राजनीतिक दलों और गैर–सरकारी एजेंसियों की सहमति लगभग बन चुकी है। इस संयुक्त एजेंडे को समझकर ही एक देशप्रेमी, वैज्ञानिक, समतामूलक और मानवीय शिक्षा का क्रांतिकारी कार्यक्रम बनाने के नए रास्ते तलाशने होंगे।■

शिक्षा अधिकार मंच, भोपाल
संकल्प[29]

हम सब सामूहिक रूप से 'बच्चों के लिए मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार विधेयक, 2008' का **सख्त विरोध करते हुए इसे पूरी तौरपर खारिज करते हैं।** हम केंद्रीय सरकार से पुरजोर मांग करते हैं कि वह इस विधेयक को तुरंत वापस ले और **इसकी जगह 'पड़ोसी स्कूल पर आधारित समान स्कूल प्रणाली' के खाके में तैयार किया गया एक नया विधेयक पेश करे।** हमारा मानना है कि स्कूली व्यवस्था का यही एकमात्र खाका है जो संविधान में कानून के सामने बराबरी (अनुच्छेद 14), राज्य द्वारा किसी भी प्रकार के भेदभाव बरतने के खिलाफ़ गारंटी (अनुच्छेद 15–1) और सार्वजनिक रोजगारों मे समान अवसर (अनुच्छेद 16) के सिद्धांतों के अनुसार सभी बच्चों को **समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा** देना सुनिश्चित कर पाएगा।

हमारी दृष्टि में राज्य सभा में पेश विधेयक **बच्चों को शिक्षा का अधिकार देता नहीं वरन् सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन फैसले (1993) से मिले मौलिक अधिकार को छीनता है। दरअसल, यह बिल हर मायने में संविधान–विरोधी, शिक्षा–विरोधी, बाल–विरोधी एवं निजीकरण–बाज़ारीकरण समर्थक है।**

सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन फैसले (1993) ने संविधान के खंड चार के अनुच्छेद 45 में 14 साल की उम्र तक के सभी बच्चों (छह साल से कम उम्र के बच्चों समेत) को 'मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा' देने के नीति निर्देश को खंड तीन के अनुच्छेद 21 (जीने का अधिकार) के साथ जोड़कर उसे मौलिक अधिकार का दर्जा दे दिया। तभी से केंद्र की सभी सरकारों – क्रमशः

[29] 14 फरवरी 2009 को गांधी भवन, भोपाल में आयोजित एक जनसभा में पारित संकल्प पर आधारित। जनसभा के बाद संसद में पेश शिक्षा अधिकार विधेयक के संविधान–विरोधी,, शिक्षा–विरोधी, एवं बाल–विरोधी, चरित्र के विरोध में और समान स्कूल प्रणाली पर आधारित वैकल्पिक विधेयक की मांग करते हुए रैली निकली। रैली के अंत में न्यू मार्कट के बीच गैस पीड़ित महिलाओं एवं शिक्षक संगठनों के प्रतिनिधियों ने उक्त विधेयक की प्रतियां जलाकर अपने क्षोभ का इजहार किया।

कांग्रेस, संयुक्त मोर्चा, राजग (एनडीए) और संप्रग (यूपीए) – ने इसके असर को कमज़ोर और विकृत करने के लिए प्रतिगामी कदम उठाए हैं। दिसंबर (2002) में राजग (एनडीए) सरकार ने इसी दृष्टि से 86वां संविधान संशोधन करवाकर खंड तीन में अनुच्छेद 21(क) जुड़वाया। इसके कारण (1) छह साल से कम उम्र के 17 करोड़ बच्चों का संतुलित पोषण, सेहत की देखभाल और पूर्व–प्राथमिक शिक्षा (नर्सरी–के.जी.) का मौलिक अधिकार छिन गया, एवं (2) सरकार को छूट मिल गई कि वह 6–14 साल के आयु समूह के 19 करोड़ बच्चों को 'मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा' का अधिकार 'उस रीति से दे जो राज्य कानूनन निर्धारित करे' यानी मनमाने ढंग से सशर्त दे, जैसा कि वह पिछले साठ सालों से करती आई है। उक्त विधेयक इसी अनुच्छेद 21(क) के तहत बनाया गया है।

हम अत्यंत क्षोभ के साथ यह दर्ज करते हैं कि **संसदीय स्थाई समिति** ने बेहद हड़बड़ी में गैर–लोकतांत्रिक और तदर्थ तरीके से बिना कोई जन सुनवाई का मौका दिए इस विवादस्पद विधेयक को राज्यसभा अध्यक्ष को लौटा दिया।

हम यहां इस विधेयक में कई गंभीर खामियां और विरोधाभास दर्ज कर रहे हैं। यह विधेयक,

- सरकार को छूट देता है कि वह मनमाने ढंग से मुफ़्त शिक्षा की परिभाषा को कमज़ोर कर ले।
- कोठारी आयोग (1966) और संसद द्वारा पारित राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 (1992 में संशोधित) की पड़ोसी स्कूल की अवधारणा को जानबूझ कर विकृत कर रहा है जिसके चलते सरकार गरीब बच्चों को घटिया स्कूलों में पढ़ने के लिए मजबूर कर पाएगी।
- सर्व शिक्षा अभियान की भेदभावपूर्ण बहुपरती स्कूल व्यवस्था को बरकरार रखेगा।
- सरकार को पूर्णतः अस्वीकार्य, ढीलेढाले और घटिया स्तर के मानदंडों वाले स्कूलों को चलाने की अनुमति देता है।
- कम–से–कम तीन–चौथाई बच्चों, खासकर लड़कियों और विकलांगों, को घटिया गुणवत्ता की शिक्षा देना जारी रखेगा।
- सरकारी एवं निजी सहायता–विहीन स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चों के बीच कई प्रकार से भेदभाव करता है। इसके कारण तय है कि सरकारी

स्कूलों की गुणवत्ता लगातार गिरेगी। परिणामस्वरूप सहायता–विहीन व सहायता–प्राप्त दोनों प्रकार के निजी स्कूल बढ़ते क्रम में अधिक महंगे और समाज के अधिकांश लोगों की पहुंच के बाहर हो जाएंगे। इसका सबसे ज़्यादा खामियाजा लड़कियों को भुगतना पड़ेगा और शिक्षा में सामाजिक लिंगभेद बढ़ेगा।

- निजी स्कूलों में कमज़ोर वर्गों के बच्चों को दर्ज संख्या के 25 फीसदी तक मुफ़्त शिक्षा देने के बहाने सरकारी स्कूल व्यवस्था को खत्म करने जा रहा है। वैसे भी इससे कमज़ोर वर्ग के बच्चों को कोई ठोस लाभ नहीं होने वाला है।
- निजी स्कूलों में 25 फीसदी आरक्षण के उपरोक्त प्रावधान के जरिए मुक्त बाज़ारवाद के तहत बनी स्कूल वाउचर की नीति और सार्वजनिक–निजी साझेदारी का वैधानीकरण करेगा।
- वित्तीय ज्ञापन में क्रियान्वयन के खर्च का अनुमान शामिल नहीं करके सरकार को खर्च की जवाबदेही से मुकरने की पूरी छूट देता है।
- स्कूली शिक्षा के बेलगाम निजीकरण और बाज़ारीकरण को बढ़ावा देता है।

ऐसा भ्रांतिपूर्ण कानून बनाने के पीछे केंद्रीय सरकार के **<u>तीन मकसद</u>** पहचाने जा सकते हैं –

<u>पहला,</u> मुफ़्त और ़अनिवार्य समतामूलक शिक्षा की अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पल्ला झाड़ना।

<u>दूसरा,</u> सरकारी स्कूल व्यवस्था को ध्वस्त यानी खत्म करना सिवाए सरकारी अभिजात् स्कूलों के।

<u>तीसरा,</u> स्कूली शिक्षा के निजीकरण–बाजारीकरण की रफ़्तार तेज करना।

हम **इस विधेयक को पूरी तौरपर खारिज करते हुए** केंद्रीय सरकार से मांग करते हैं कि वह,

1. इस विधेयक की जगह संविधान की मूल भावना और बुनियादी सिद्धांतों के अनुसार **'पड़ोसी स्कूल पर आधारित समान स्कूल प्रणाली' के खाके** में तैयार किया गया एक नया विधेयक पेश करे।

2. **छियासिवें संविधान संशोधन (2002) की समीक्षा** करके **18 साल की उम्र तक** के बच्चों को यानी **12वीं कक्षा तक मुफ़्त शिक्षा का मौलिक अधिकार** **<u>बिना किसी शर्त</u> के** दिया जाए।
3. विधेयक में शिक्षा के **निजीकरण और बाजारीकरण पर रोक** लगाने के प्रावधान हों, खासकर **सार्वजनिक–निजी साझेदारी (पी.पी.पी.)** और इसके विभिन्न रूपों (जैसे स्कूल गोद लेना, वाउचर स्कूल आदि) पर।
4. लोकतांत्रिक प्रक्रिया अपनाते हुए **हरेक राज्य/केंद्र–शासित प्रदेश की कम–से–कम राजधानी में** नया विधेयक बनाने के दौरान **जन सुनवाई** का विधिवत आयोजन किया जाए।

हम सब अधोहस्ताक्षरित लोग –

क्र.	नाम	संस्था/संगठन	पता	हस्ताक्षर
1.				
2.				
3.				
4.				

●

उक्त संकल्प को देश के अलग–अलग अंचलों में
विभिन्न संगठनों ने स्वीकार लिया है और
इस पर कई हस्ताक्षर अभियान
चल रहे हैं।
आप भी आगे आइए और भारत की शिक्षा को बचाने
के इस अभियान में जुट जाइए !

●

शिक्षा अधिकार मंच, भोपाल की रैली में बंटा हैंडबिल

14 फरवरी 2009 भोपाल में बिल के विरोध में जनसभा और रैली

संसद में शिक्षा का अधिकार छीननेवाला बिल!

जागो, शिक्षा खतरे में है!!

जनता के सरकार से दस सवाल

क्या इस बिल के पारित होने के बाद,

- सब बच्चों को सच्चे मायने में मुफ़्त शिक्षा मिल पाएगी?
- हरेक सरकारी/निजी स्कूल अमीर–गरीब के लिए पड़ोसी स्कूल बन जाएगा?
- सब बच्चों को समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा मिल पाएगी?
- सर्व शिक्षा अभियान की भेदभावपूर्ण बहुपरती स्कूल व्यवस्था खत्म हो जाएगी?
- शिक्षकों का आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक स्तर ऊंचा उठेगा?
- निजी स्कूलों में मनमानी फ़ीस ऐंठना व बच्चों की छंटनी करना बंद हो जाएगा?
- सरकारी स्कूलों में पूर्व–प्राथमिक यानी नर्सरी–के.जी. की मुफ़्त शिक्षा मिलेगी?
- मुफ़्त और गुणवत्तापूर्ण माध्यमिक शिक्षा (कक्षा 9–12) का अधिकार मिल जाएगा?
- स्कूली शिक्षा का निजीकरण, कारोबार और उसमें मुनाफ़ाखोरी बंद हो जाएगी?
- सरकार स्कूल व्यवस्था के लिए आवश्यक धन मुहैय्या कराने हेतु बाध्य होगी?

नहीं! नहीं! नहीं! जैसा है वैसा ही चलता रहेगा, बदहाली बढ़ेगी!

तो सरकार ऐसा कानून क्यों बनवा रही है? सरकार के **तीन मकसद** हैं।

पहला, मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा की अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पल्ला झाड़ना।

दूसरा, सरकारी स्कूल व्यवस्था को ध्वस्त यानी खत्म करना।

तीसरा, स्कूली शिक्षा के निजीकरण–बाजारीकरण की रफ़्तार तेज करना।

संसद में आया है फ़रमान, बेच दो शिक्षा का अरमान!

इस मुद्दे पर खुली बहस लोकतंत्र का तकाज़ा है।

―――――

किशोर भारती

शिक्षा पर हो रहे नवउदारवादी हमलों के खिलाफ जनता की लडाई में अपनी भूमिका तय करते हुए

शिक्षा के द्वारा सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य से **'किशोर भारती न्यास'** ने ग्राम पलिया पिपरिया, बनखेड़ी प्रखंड, जिला होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) में इक्कीस सालों तक (1971–92) विभिन्न मुद्दों पर काम किया। इनमें शिक्षा व्यवस्था में बदलाव, सिंचाई और खेती में अनुकूल तकनीक की तलाश, स्वास्थ्य–गरीबी के रिश्ते को दोबारा परिभाषित करने, महिला मुक्ति के लिए प्रजनन स्वास्थ्य, जानकारी व ज्ञान को जनचेतना से जोड़ने और जनतांत्रिक अधिकार जैसे मुद्दे शामिल हैं। 1970 और 1980 के दशकों में किशोर भारती ने जनविज्ञान, जनस्वास्थ्य, नारीवाद, खेत मजदूर और उनके सामंती शोषण, मानव अधिकार और शैक्षिक बदलाव के सवालों से जुड़े आंदोलनों में योगदान दिया।

इसी क्रम में सन् 1972 में फ्रेंड्स रूरल सेंटर, रसूलिया के साथ 16 सरकारी मिडिल स्कूलों में शुरू किया गया 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' (होविशिका) सन् 1978 में होशंगाबाद जिले के सभी लगभग 280 मिडिल स्कूलों में स्थापित हुआ। शिक्षा में इस व्यवस्थामूलक बदलाव के हस्तक्षेप ने देशभर के नीति निर्माताओं, शिक्षाविदों व अन्य बुद्धिजीवियों की चेतना को झकझोर दिया। सन् 1981–82 में होविशिका टीम के सामूहिक अहसास के चलते किशोर भारती की पहलकदमी से शैक्षिक व्यवस्था में बदलाव के लिए नीतिगत हस्तक्षेप को एक जनप्रक्रिया बनाने के उद्देश्य से 'एकलव्य' संस्था का गठन करके उसे होविशिका की विरासत सौंपी गई।

किशोर भारती समूह की सामाजिक ढांचे और राज्य के चरित्र की विकसित होती हुई समझ का परिणाम था कि उसका काम गैर–सरकारी संस्था के पारंपरिक दायरे से बाहर निकल पाया। इसके चलते सन् 1980–81 में शहीद शंकर गुहा नियोगी के नेतृत्व में खड़े हो रहे आंदोलन के तहत मजदूरों द्वारा बनाए गए शहीद अस्पताल में एक डॉक्टर भेजना और सन् 1984–86 में भोपाल गैसकांड के आंदोलन में जानकारी के सक्रिय स्रोत के रूप में उभरना संभव हुआ।

सन् 1980 के उत्तरार्ध में पूरे देश में अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषित एजेंसियों का दबदबा बढ़ रहा था। इसके पहले कि किशोर भारती भी इस बदलते दौर की एक और मठ, दुकान या एन.जी.ओ. बन जाती, लीज़ पर मिली 150 एकड़ सरकारी जमीन सन् 1992 में सरकार को वापस कर दी और बटोरे गए संसाधन (जीप से लेकर पुस्तकालय तक) जिले व प्रदेश में जनसमूहों और जनांदोलनों को बांट कर नई राह की तलाश शुरू कर दी।

सन् 2007–08 से किशोर भारती ने **शिक्षा का अधिकार एवं समान स्कूल व्यवस्था – राष्ट्रव्यापी प्रक्रिया का उत्प्रेरणश** नामक कार्यक्रम शुरू किया। एक ओर, इस कार्यक्रम ने पूंजीवाद के बढ़ते हुए संकट के चलते भारतीय राज्य के बदलते हुए चरित्र के विश्लेषण से सीख ली है। दूसरी ओर, इसका सोच वैश्वीकरण और नवउदारवादी नीतियों के कारण हो रहे सामाजिक–राजनीतिक असरों और बढ़ती हुई गैर–बराबरी व बदहाली पर केंद्रित हुआ, खासकर शैक्षिक नीतियों और व्यवस्था पर। शिक्षा के सवाल को जल–जंगल –जमीन और जीविका पर नवउदारवाद के लगातार हो रहे नए हमलों से अलग करके नहीं देखा जा सकता, ऐसा हमारा मानना है।

इस कार्यक्रम का वर्तमान फ़ोकस संविधान की दृष्टि से समानता, समान अवसर व सामाजिक न्याय की बुनियाद पर शिक्षा के अधिकार को उसकी समग्रता के साथ ज़मीन पर उतारना है। हमारा यह भी मानना है कि इस मकसद को पूरा करने के लिए भारत में पड़ोसी स्कूल पर आधारित समान स्कूल प्रणाली स्थापित करना ज़रूरी होगा। ऐसा बदलाव बगैर सामाजिक परिवर्तन और जन आंदोलन के नहीं आ सकता। साथ में, ऐसी शिक्षा खड़ी करनी होगी जो यथास्थिति में बदलाव लाने के लिए समीक्षात्मक चिंतन और रचनात्मक कर्म हेतु जागरूक नागरिकता का निर्माण करे। इसी उद्देश्य से जनचेतना विकसित करने और परिवर्तन के लिए चल रहे आंदोलनों के लिए एक स्रोत केंद्र की भूमिका निभाना, किशोर भारती का मुख्य काम रहेगा।■

शिक्षा है मौलिक अधिकार,
बंद करो इसका व्यापार ।

जनता के सरकार एवं संसद से सात सवाल और हमारे जवाब

क्र.	सवाल	जवाब
1.	क्या सब बच्चों को मुफ्त शिक्षा मिल पाएगी?	**नहीं चूंकि** सरकारी स्कूलों में भी मुफ्त शिक्षा क्या है, यह सरकार तय करेगी और सहायता–विहीन निजी स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चों से यह अधिकार छिन जाएगा – खंड 3(2) सहित 8(क).
2.	क्या कोठारी आयोग और 1986 की शिक्षा नीति वाला पड़ोसी स्कूल मिल पाएगा?	**नहीं चूंकि** बड़ी चतुराई से पड़ोस की परिभाषा ही बदल दी है। इसके चलते सरकार गरीब बच्चों को घटिया स्कूलों में जाने के लिए मजबूर कर पाएगी – खंड 3(1) सहित 6.
3.	क्या बगैर भेदभाव के शिक्षा मिल पाएगी?	**नहीं चूंकि** भेदभावपूर्ण शिक्षा और सर्व शिक्षा अभियान की बहुपरती शिक्षा का वैधानीकरण हो जाएगा यानी कानूनी मोहर लग जाएगी – खंड 2(एन,पी), 6, 11, 12, 19, 21, 23, 25, 27, 29(1), 29(2)(एफ) सहित घटिया मानदंडोंवाला शेडयुल.
4.	क्या शिक्षकों का स्तर ऊंचा उठेगा?	**नहीं चूंकि** अर्हता–विहीन, प्रशिक्षण–विहीन व कम वेतनवाले पैरा–टीचर ठेके पर नियुक्त होते रहेंगे – खंड 23, 27.
5.	क्या निजी स्कूलों द्वारा महंगी शिक्षा देना और मनमानी फीस ऐंठना बंद हो जाएगा?	**नहीं चूंकि** निजी स्कूलों की फीस को नियमन और नियंत्रण का प्राधिकार राज्य सरकारों या स्थानीय निकायों को नहीं दिया गया है – खंड 8, 9
6.	क्या सरकारी स्कूलों में नर्सरी, के.जी. की शिक्षा मिलेगी?	**नहीं चूंकि** हमेशा की तरह यह मामला राज्य सरकारों की इच्छा पर ढुलमुल छोड़ दिया गया है – खंड 11
7.	क्या सब बच्चों को माध्यमिक शिक्षा (कक्षा 9–12) का अधिकार मिल जाएगा?	**नहीं चूंकि** इसका कोई प्रावधान ही नहीं है।

आखिर, ऐसा कानून सरकार क्यों बनवा रही है?

इसके तीन मकसद हैं –

पहला, संविधान में निर्देशित मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा के प्रति सरकार की जवाबदेही से पल्ला झाड़ना।

दूसरा, 12 लाख स्कूलों की विशाल सरकारी स्कूल व्यवस्था को ध्वस्त यानी खत्म करना।

तीसरा, शिक्षा के निजीकरण–बाजारीकरण की रफ्तार तेज करना।

इस पुस्तिका में दिए गए तर्कों व तथ्यों के बावजूद यदि किसी को लगता है कि यह कानून बनना ही चाहिए तो ऐसे सभी लोगों से अपील है कि वे इससे होनेवाले तीन फायदे गिनाएं।

इस मुद्दे पर खुली बहस लोकतंत्र का तकाजा है।

राज्य सभा में पेश
'बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008'
की पैरवी करने वालों से सवाल

मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा मंत्रीमंडलीय सचिवालय, भारत सरकार को फरवरी 2008 में विधेयक के प्रारूप के साथ लिखे गोपनीय पत्र* में से नीचे दिए उद्धरण को ध्यान से पढ़िए

"संविधान (छियासिवां संशोधन) अधिनियम, 2002 का खंड 1(2) कहता है कि यह उस तारीख से लागू होगा जिसकी अधिसूचना केंद्रीय सरकार सरकारी गजट में जारी करेगी। 86वें संविधान संशोधन को बाध्यकारी बनाने में काफ़ी देरी हो चुकी है। जब तक 86वां संविधान संशोधन बाध्यकारी नहीं बनाया जाता तब तक 0-14 आयु समूह के बच्चों को अपने दायरे में लानेवाला सुप्रीम कोर्ट का उन्नीकृष्णन प्रकरण में दिया गया फैसला देश में कानून के रूप में लागू है। अतः 86वें संविधान संशोधन, जिसके दायरे में 6-14 आयु समूह के बच्चे आते हैं, को सरकारी गजट में अधिसूचना जारी करके बाध्यकारी बनाना एक तात्कालिक ज़रूरत बन गई है।"

*पत्र सं. एफ. एन. 1-1/2008 ईई.4, फरवरी 2008 (गोपनीय)

उक्त सरकारी पत्र ने राज्य सभा में शिक्षा अधिकार विधेयक पेश करने के पीछे केंद्रीय सरकार की असली मंशा की पोल खोल दी है। यानी सरकार यह विधेयक सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन फैसले से मिले शिक्षा के मौलिक अधिकार को छीनने की मंशा से ला रही है। पूरे विवरण के लिए इस पुस्तिका को पढ़ें।

इसीलिए इस गैर-संवैधानिक, बाल-विरोधी और निजीकरण-बाजारीकरण के समर्थक विधेयक की पैरवी करने वालों से सवाल है कि आखिर वे इसके पक्ष में क्यों खड़े हैं?

सहयोग राशि - ₹ 35/-